प्राप्ति-स्थान—

१—श्रीकृष्ण जैन

४५३७ पहाड़ी धीरज, देहली

२—श्री पार्श्वनाथ दि० जैन मन्दिर

बाबाजी की बगीची (बर्फखाना के पीछे)

सब्जी मण्डी, दिल्ली

मुद्रक—सम्राट् प्रेस,

पहाडी धीरज, देहली

तात्विक-विचार

लेखक—

अजितकुमार शास्त्री

सम्पादक-जैन गजट

प्रकाशक—

श्रीकृष्ण जैन

मंत्री-श्री शास्त्र स्वाध्यायशाला

श्री दि० जैन पार्श्वनाथ मन्दिर

बाबाजी की बगीची (बर्फ खाने के पीछे)

सब्जी मण्डी, दिल्ली

प्रथम आवृत्ति १००० | चैत्र शु० १३ मगलवार वीर स०२४८८ दि० १७-४-६२ | मूल्य ४ आने डाक खर्च १५ न पै

दो शब्द

जैनधर्म अपने अकाट्य सिद्धान्तो के द्वारा समय-समय पर होने वाले दार्शनिक तथा राजनैतिक प्रहारो से अब तक अक्षुण्ण बना रहा है। किन्तु आज हमारे कुछ महानुभाव आ० कुन्दकुन्द की रचनाओं का आधार लेकर अपने एकान्त विचारो को जैन धर्म पर थोपना चाहते है, यह ऐसा प्रहार है जो बाहर से नही किन्तु भीतर से हो रहा है और मिल कर हो रहा है। उसका प्रतिरोध करना प्रत्येक जैन का कर्तव्य है। श्री प० अजितकुमार जी शास्त्री देहली ने 'तात्विक विचार' पुस्तक लिख कर उसी दिशा की ओर प्रयास किया है। निश्चय व्यवहार का समन्वयात्मक विश्लेषण, निमित्त और उपादान की कार्य के प्रति सार्थकता, नियतिवाद की अयथार्थता आदि अनेक विषयो की पुस्तक मे चर्चा की गई है।

जैनधर्म का साधारण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी नयो की सापेक्षता को समझ सकता है। व्यवहार और निश्चय ये दो नय हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। नय सदा आंशिक सत्य का ही प्रतिपादन करता है। मूल मुद्दा यह है कि, क्या निश्चय नय वस्तु को सर्वांश ग्रहण करता है या किसी एक अंश को ? यदि सर्वांश को ग्रहण करता है तो वह नय नही प्रमाण कहलायगा। यदि एक अंश को ग्रहण करता है तो वह पूर्ण सत्य कैसे ? यही तर्क व्यवहार नय के विषय मे है। अत या तो दोनो आँशिक सत्य हैं या फिर दोनो ही मिथ्या। किसी एक नय को सत्य बता कर दूसरे को झूठा कहना महज हिमाकत है और कुछ नही। पंचाध्यायीकार हमे कहते है कि दोनो नयो से वस्तु स्वरूप को समझ कर जो मध्यस्थ रह जाता है वही आत्म-स्वरूप का लाभ करता है। किन्तु जब यह कहा जाता है कि व्यवहार नय को छोड कर निश्चय नय को ग्रहण करना चाहिए। तब मध्यस्थता की बात

नही रहती और मध्यस्थ न रहने से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार निमित्त उपादान बाह्य और अभ्यन्तर दो कारण हैं जो मिल कर कार्य पैदा करते हैं किन्तु प्रयोजनवश जब उपादान पर जोर दिया जाता हैं तो निमित्त कारण को गौण कर दिया जाता है और प्रयोजनवश जब निमित्त पर जोर दिया जाता है तो उपादान को गोण कर दिया जाता है। लेकिन सर्वथा किसी एक ही कारण पर जोर देना कार्य कारण भाव-अनभिज्ञता प्रकट करना है।

नियतिवाद को तो स्पष्ट ही जैन शास्त्रो मे ३६३ पाखण्डों मे गिनाया है। उससे बचने के लिए कुछ विद्वान् यह कहते भी सुने जाते हैं कि जिस नियतिवाद को पाखण्डो मे गिनाया हे। उसमे कार्यकारण भाव को छोड दिया गया है जब कि हमारे नियतवाद मे कार्य कारण भाव के लिये स्थान है। पर यह केवल आत्म-प्रवञ्चना है। जिस पाखण्ड मे कार्य कारण भाव को स्वीकार नही किया गया वह स्वभाववाद है नियतिवाद की तरह स्वभाववाद भी ३६३ पाखण्डो मे है। अत' नियतिवाद पाखण्ड मे और आज के नियतिवाद मे कोई अन्तर नही है। साधारण जनता को भुलावे मे डालना विद्वानो को शोभास्पद नही।

खैर, इन सभी विषयो की विस्तृत चर्चा इस पुस्तक मे की गई है। पं० अजितकुमार जी शास्त्री मजे हुए विद्वान् हैं। उनकी लेखनी सयत है। प्रतिपक्षी के लिए उनके बडे उदार विचार है फिर भी उन्हे कभी-कभी विरोधी मित्र असहिष्णुता से याद करते है।

यह पुस्तक लिख कर पं० जी ने जिज्ञासु समाज का बडा उपकार किया है। ~~इसके लिए समाज~~ उनका आभारी रहेगा।

—लालबहादुर शास्त्री
एम० ए० साहित्याचार्य,

आद्य-वक्तव्य

केवल-ज्ञान द्वारा स्पष्ट, निर्भ्रान्त परिज्ञात विषय को 'सिद्धान्त' कहते हैं, अत जिनवाणी को, जो कि गुरु-परम्परा से इस समय भी उपलब्ध है, 'सिद्धान्त' माना जाता है। ज्ञानधारा मे स्याद्वाद और आचरण-धारा मे अहिसा उस सिद्धान्त का मुख्य रूप है। जिनेन्द्र देव के श्रद्धालु भक्त को जिनवाणी का प्रतिपादित सिद्धान्त विना-किसी शका या 'ननु न च' के हृदय से स्वीकार करना चाहिए। धोखा खा जाने वाली अपनी स्वल्प-बुद्धि-जनित कुतर्क से जो व्यवित उस जिनवाणी को तोड-मरोड कर विरूप करने का यत्न करे, वह व्यक्ति जैन सिद्धान्त का श्रद्धालु कैसे कहा जा सकता है?

श्री कहान जी स्वामी इस समय के एक प्रभावशाली विद्वान् ववता हैं, उन्होने श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो का अध्ययन करके जो अपनी श्रद्धा तथा ज्ञान आचरण मे क्रान्तिकारी परिवर्तत किया है, उनके उस महान त्याग का मूल्य अकन करना गलती है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अभी तक उन्होने कुछ सैद्धान्तिक वातो को जिनवाणी-अनुसार सिद्धान्त रूप मे न लेकर 'साध्यान्त' रूप मे ग्रहण किया है और जैन सिद्धान्त से अनमेल होते हुए भी उनका ही प्रचार कर रहे हे। इस तरह जहा वे स्वय तथ्य-अश से कुछ दूर है, वहाँ उनके अनुयायी भी तथ्य-अश से दूर होते जा रहे हे। इस सैद्धान्तिक विमान्यता से एकसूत्र मे गुथा हुआ दि० जैन समाज अनैक्य (विरोधी दलवन्दी) का लक्ष्य वन गया है।

मैं आशावादी हूँ, अत मुझे विश्वास है कि अभी तक किसी विद्वान सिद्धान्त-वेत्ता ने उनके सदिग्ध विषय का उनके सामने दृढता से युक्ति-

युक्त निरास नही किया, अन्यथा श्री कहान जी स्वामी उन सैद्धान्तिक गलतियो को सुधारने मे देर न करते। जो विद्वान् उनके निकट सम्पर्क मे आये, उन्होने सैद्धान्तिक विद्वान् के निर्भीक कर्त्तव्य का पालन नही किया।

अपने उन मित्र विद्वानो के लिए तो कुछ भी लिखना व्यर्थ है क्योकि वे सिद्धान्त को स्वय जाने हुए हैं, उनकी आन्तरिक श्रद्धा भी उसी के अनुसार है। उनके सामने जब कभी भी वार्ता होगी तो उन्हे अपनी गलती स्वीकार करते देर न लगेगी। रही श्री कहान जी स्वामी की बात, सो श्री कहान जी स्वामी सोनगढ से बाहर आकर किसी सुविधा-जनक स्थान पर चर्चा करे तो उनके लिए स्व-पर-हित की दृष्टि से वह सुगम मार्ग रहेगा अन्यथा यह चर्चा सोनगढ जाकर ही करने की योजना विचाराधीन है। श्री प० वशीधर जी व्याकरणाचार्य बीना की लेखमाला समाप्त हो जाने पर उस योजना को कार्यान्वित किया जाएगा।

अभी गत मास इन्दौर-निवासी प्रसिद्ध विद्वान् प० श्री जीवन्धर जी न्यायतीर्थ-लिखित 'जैन तत्व विवेक' पुस्तक प्रकाशित हुई है, उसी के साथ मुझे भी कुछ लिखने की प्रेरणा की गई थी। उपयोगी समय को हजम कर जाने वाले कठोर परिश्रम-साध्य प्रेस कार्य से इधर-उधर का थोडा समय निकाल कर मैने कुछ लिख दिया। स्थानीय सज्जनो की प्रेरणा से उसी मैटर मे कुछ और नया मैटर लिखकर यह पुस्तक तैयार की है। इसमे किसी विद्वान् या श्री कहान जी स्वामी के खडन की पद्धति नही अपनाई गई। यह तो विवाद-ग्रस्त विषयो पर सैद्धान्तिक प्रकाश डालना मात्र है। आशा है पाठक महानुभाव इससे लाभ उठावेगे।

इसमे प्राय सभी प्रमाण श्री कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थो के दिये है क्योकि श्री कहान जी स्वामी की श्रद्धा उन ही ग्रन्थो पर विशेष है।

प्रत्येक जैन नर नारी वीतराग देव की प्रतिमा द्वारा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप का दर्शन तथा मनन करने के लिए प्रतिदिन मन्दिर मे जाता है। वहाँ पर वह वीतराग प्रतिमा का दर्शन, नमन, पूजन करता है। सामायिक, स्वाध्याय करता है। एव अपने चारित्रशोधन के लिये मद्य, माँस मधु के खान-पान का त्याग करता है, अहिंसक आचरण के लिए रात्रि-भोजन नही करता, जल छान कर पीता है, इत्यादि जैन-सस्कृति अव तक चली आ रही है। इस तरह देव गुरु शास्त्र को आत्मशुद्धि का निमित्त मानकर ही जैन सस्कृति अव तक जीवित रही है। यदि निमित्तकारण कार्यकारी न हो, तो यह जैन-सस्कृति निरर्थक मानी जाकर विलुप्त हो जायगी।

इसके सिवाय श्री कहान जी स्वामी को एक यह वात भी ध्यान में रखना उचित है कि एकान्तवाद मिथ्यात्व का मूल है। जैन-सिद्धान्त अनेकान्तवाद रूप है। अत आपकी मान्यता तथा प्रचार में किसी भी प्रकार का एकान्त पक्ष का पोपण न होना चाहिए। एकान्त-मान्यता की पुष्टि श्री कुन्दकुन्द-आचार्य-प्रणीत शास्त्र भी नही करते।

श्रद्धा और ज्ञान की सफलता चारित्र मे निहित है। श्रद्धालु आत्म-ज्ञानी यदि चारित्र का आचरण न करे, तो करोडो भव तक उसे ससार मे भ्रमण करना पडता है। जब भी कोई भव्य-आत्मा मुक्त होगा तो उसे अणुव्रत महाव्रत आदि चारित्र का आश्रय अवश्य लेना पडेगा। अत श्री कहान जी स्वामी को विचार, आचार तथा प्रचार मे श्री कुन्द-कुन्द आचार्य का अनुकरण करना चाहिये।

—अजितकुमार शास्त्री

विषय सूची

यह जगत

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों का समुदाय जगत कहलाता है। ३४३ घन राजू प्रमाण लोकाकाश है, उसमें छहों द्रव्य हैं। उससे बाहर सब ओर केवल आकाश द्रव्य है, इस कारण उसका नाम अलोकाकाश है।

प्रत्येक द्रव्य गुणपर्यायमय होता है। उसका अस्तित्व उत्पाद व्यय ध्रौव्य-स्वरूप है। तदनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने गुणों की ध्रुवता (अविनाशीपन) के कारण नित्य है और अपनी पर्याय के कारण प्रतिक्षण उत्पत्ति-विनाशशील भी है। श्री कुन्द कुन्द आचार्य ने पंचास्तिकाय में लिखा है—

दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपज्जयासयं वा, जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

यानी—सत् लक्षण वाला द्रव्य है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य है अथवा जो गुण पर्याय वाला है, उसे सर्वज्ञ भगवान ने द्रव्य कहा है।

पज्जयविजुदं दव्वं, दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।

दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि।

अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥१३॥

यानी—पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। इस कारण द्रव्य और पर्याय अनन्यभूत (एक रूप) हैं। तथा

द्रव्य के विना गुण नही होते और गुणो के विना द्रव्य नही होता, इस लिए द्रव्य और गुणो का एकत्वभाव है।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्य के लिखे अनुसार गुण द्रव्य और पर्याय की एकता है, इनको परस्पर मे भिन्न करना असभव है।

द्रव्यो के दो भेद

उक्त छह द्रव्यो मे धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य शुद्ध हैं। सदा स्वभाव रूप से इनका परिणाम होता रहता है। किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्य मे स्वभाव और विभाव दोनो तरह का परिणाम हुआ करता है। जीव जव तक पुद्गल द्रव्य (कर्म तथा नोकर्म) के सबध से विकृत ससारी वना रहता है तव तक उसका अशुद्ध परिणमन होता रहता हे। जव वह कर्म नोकर्म से मुक्त हो जाता है तव वह सदा के लिये शुद्ध स्वाभाविक परिणमनवाला वन जाता है। पुद्गल जव परमाणु रूप मे रहता हे तव उसका शुद्ध परिणमन होता है, जव वह अन्य परमाणु से सम्वद्ध हो कर स्कन्ध वन जाता हे, तव उस का अशुद्ध परिणमन होता है। कार्माण तथा नोकार्माण स्कन्ध जव जीव से सम्वद्ध हो जाते हैं तव कर्मो के तथा शरीर के रूप मे उनका और भी अधिक अशुद्ध परिणमन होता हे।

स्वतंत्रता परतंत्रता

प्रत्येक द्रव्य यद्यपि अपने स्वरूप से स्वतत्र अविनाशी हे। अगरुलघु गुणो की अपेक्षा उसका परिणमन स्वतत्र हुआ करता है, परन्तु इसके सिवाय समस्त द्रव्य अपने परिणमन मे अन्य द्रव्यो के सहयोग की भी अपेक्षा रखते है। तदनुसार अपने प्रदेशो मे रहते हुए भी प्रत्येक द्रव्य को अपने रहने के लिये आकाश द्रव्य का वाहरी सहयोग अवश्य लेना पडता है, वह द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, जड हो या चेतन। क्रियाशील जीव पुद्गल द्रव्यो को शुद्ध तथा अशुद्ध दोनो

अवस्थाओं मे स्थान से स्थानान्तर रूप क्रिया करने मे धर्मद्रव्य की वाहरी सहायता अवश्य लेनी पडती है और एक स्थान पर ठहरने मे अधर्म द्रव्य की वाहरी सहायता लेनी पडती है। तथा प्रत्येक शुद्ध या अशुद्ध द्रव्य को अपने परिणमन(व्यञ्जन पर्याय) के लिये वाहरी सहयोग काल द्रव्य का अनिवार्य रूप से लेना पडता है। इस सहायता या सहयोग के कारण प्रत्येक द्रव्य आशिक रूप से परतत्र भी है, सर्वथा स्वतत्र नही है । इस तरह स्वतत्रता, परतत्रता प्रत्येक द्रव्य मे स्वाभाविक रूप से है।

इस विषय को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने पचास्तिकाय मे निम्न-लिखित रूप से लिखा है—

उदय जह मच्छाण गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीव पुग्गलाण धम्म दव्व वियाणेहि ॥८५॥
जह हवदि धम्मदव्व तह त जाणेह दव्वमधम्मक्ख।
ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव ॥८६॥

यानी—जिस प्रकार जल उदासीन रूप मे, चलने वाली मछलियो को चलने मे सहायक होता है, उसी तरह क्रियाशील जीव पुद्गलो को उस हलन चलन क्रिया मे धर्मद्रव्य उदासीन रूप से सहायक होता है। इसी प्रकार ठहरने वाले जीव पुद्गलो को उदासीन रूप से पृथ्वी की तरह अधर्म द्रव्य सहायक होता है।

जिस तरह जल मे मछली स्वय चलती है, उसे वलपूर्वक जल नही चलाता परन्तु यह तो निश्चित वात है कि जल की सहायता के विना मछली सूखी पृथ्वी पर एक गज भी नही चल सकती यानी—मछली को अपने चलने मे जल की सहायता लेना अनिवार्य है। इसी तरह जीव पुद्गलो को आने, जाने, उडने, गिरने, हिलने आदि क्रिया मे धर्म द्रव्य की सहायता मिलना अनिवार्य है, विना धर्म द्रव्य की सहायता के कोई भी जीव या पुद्गल एक इच भी चल फिर नही सकता।

मुक्त जीव का ऊर्ध्वगमन

जीवका स्वभाव ऊपर जाने का है इसीलिये जव ससारी आत्मा अपना कर्म-वन्धन तोड देता है तव वह स्वभाव से ऊपर जाता है, परन्तु जाता वही तक है जहाँ तक धर्म द्रव्य उसको सहायक मिलता है। लोक से वाहर धर्म द्रव्य न होने से मुक्त जीव को लोक शिखर पर रुक जाना पडता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्र सूरि की वाणी मे पढिये—

जादो अलोगलोगो जेसि सब्भावदो य गमणठिदी।
दोवि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ॥८७॥

यानी—जो धर्म अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलो को चलने ठहरने मे सहायक निमित्त कारण हैं, उनके ही कारण आकाश द्रव्य का लोक और अलोक रूप मे विभाजन (वटवारा) हुआ है। दोनो स्वय अविभक्त (अभिन्न एक एक) है और लोकाकाश के वरावर है।

इस गाथा की टीका मे श्री अमृतचन्द्र सुरि लिखते हैं—

तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणाम तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्वहिरङ्ग-हेतू धर्माधर्मौ न भवेताम् तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वाद-लोकेऽपि वृत्ति केन वार्येत्।

यानी—जीव और पुद्गल गमन करते है और गमन करने के पश्चात् ठहर जाते है। उन दोनो द्रव्यो के स्वय गमन करने और ठहरने मे वहिरङ्ग (सहायक निमित्त) कारण यदि धर्म अधर्म द्रव्य न हो तो उनके अलोकाकाश मे भी स्वतत्र स्वच्छन्द गमन करने और ठहरने को कौन रोके। (अर्थात् उन्हे अलोकाकाश मे भी पहुँचने मे कुछ रुकावट न होती)।

गमन और ठहरने मे वहिरग सहायक कारण धर्म अधर्म द्रव्य ही हैं, आकाश द्रव्य नही है, इस वात के समाधान मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य

ने पचास्तिकाय मे ९२ से ९५ तक ४ गाथाये लिखी है उनमे से यहाँ केवल एक गाथा देते है—

जदि हवदि गमणहेदू आगास ठाणकारण तेसि ।
पसजदि अलोगहाणी, लोगस्स य अत परिवुड्ढी ॥९४॥

अर्थ—यदि जीव पुद्गलो के गमन और स्थिति मे आकाश द्रव्य वहिरग कारण हो तो अलोकाकाश की हानि और लोकाकाश की वृद्धि का प्रसग (अवसर) आ जायेगा ।

इसी गाथा के स्पष्टीकरण मे श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते है—

यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत्, तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलाना गतिस्थित्योर्नि.सीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते ।

यानी–जीव पुद्गलो की गति और स्थिति मे आकाश को ही निमित्त कारण माना जाय (श्री कहान जी स्वामी तथा प फूलचन्द जी यहा पर निमित्त कारण के स्पष्ट उल्लेख पर दृष्टिपात करके, 'निमित्त कारण की अकिंचित्करता की धारणा' वदलने की कृपा करे) तो आकाश के सर्वत्र(सव जगह) विद्यमान (मौजूद) होने से **जीव और पुद्गलो के चलने फिरने ठहरने की सीमा न रहेगी। इस कारण प्रतिक्षण अलोकाकाश कम होता जायगा ।**

नियमसार मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य स्पष्ट लिखते हैं—

जीवाण पुग्गलाण च गमण जाणेहि जावधम्मत्थी ।
धम्मत्थिका अभावे तत्तो परदो ण गच्छति ॥१८४॥

यानी—जीवो और पुद्गलो का गमन वहीं तक है जहाँ तक कि धर्मास्तिकाय है । उसके ऊपर धर्मास्तिकाय न होने से जीव पुद्गल लोक से ऊपर नहीं जाते ।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द ने वही बात लिखी है, जो श्री उमास्वामी ने 'धर्मास्तिकायाभावात्' सूत्र मे कही है ।

इसी तरह श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा अमृतचन्द्र सूरि यह स्पष्ट बतलाते है कि मुक्त जीव मे लोकाकाश के बाहर भी जाने की शक्ति या योग्यता तो है परन्तु अलोकाकाश मे धर्म द्रव्य न होने से मुक्तजीव का ऊर्ध्वगमन लोकके बाहर नही हो पाता। लोकाकाश के बाहर धर्म द्रव्य रूप निमित्त कारण के अभाव के कारण सिद्धो को लोकशिखर पर रुक जाना पडता है। यानी मुक्तजीव अपनी असीम ऊर्ध्वगमन शक्ति के कारण लोक-शिखर से ऊपर भी जा सकते थे, किन्तु धर्मास्तिकायाभावात् (धर्मास्ति-काय न होने से) वे वहाँ नही जा सके। तदनुसार मुक्त जीव लोकशिखर पर ठहरते नही अपितु उन्हे वहाँ ठहरना पडता है।

लोकशिखर पर ही ठहर जाने के कारण मुक्तजीवो मे कोई आध्या-त्मिक परतन्त्रता नही आती, न उनके अनत अव्याबाध सुख और अनन्त ज्ञान मे कोई बाधा आती है, जिससे सिद्धान्त ग्रन्थो मे प्रतिपादित इस वास्तविक स्थिति को न माना जावे।

यदि श्री कहान जी स्वामी तथा उनके मत-समर्थक विद्वान् श्री प० फूलचन्द जी शास्त्री आदि श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा अमृतचन्द्र सूरि मे श्रद्धा रखते है तो उन्हे पंचास्तिकाय तथा नियमसार के उक्त उल्लेख से निमित्त कारणकी अकिंचित्करता का एकान्त तत्काल बदल देना चाहिये।

काल द्रव्य

काल द्रव्य के विषय मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे लिखते हैं—

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसम्भूदो।
दोण्ह एस सहावो कालो खणभगुरो णियदो ॥१००॥

अर्थ—जीव पुद्गलो के परिणमन से काल का परिणमन होता है। यानी-काल जाना जाता है और जीव पुद्गलो का परिणमन काल द्रव्य के निमित्त से हुआ करता हे। यह दोनो का (काल का तथा जीवादि द्रव्य का) परिणमन कराना और परिणमन करना स्वभाव है। काल क्षण-भगुर है।

इसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते है—

जीव-पुद्गलाना परिणामस्तु बहिरङ्गनिमित्तभूतद्रव्यकालसद्भावे सति सभूतत्वात् द्रव्यकालसभूत इत्यमिधीयते ।

यानी—जीवपुद्गलो का परिणमन बहिरगनिमित्तकारणभूत काल द्रव्य के होने पर होता है, इस कारण जीव पुद्गलो का परिणमन काल द्रव्य से होना कहा जाता है ।

यहाँ भी स्पष्ट रूप से निमित्त कारण का तथा उसकी सार्थकता का उल्लेख है ।

काल द्रव्य के विषय मे श्री पूज्यपाद आचार्य तत्वार्थ सूत्र के पाचवे अध्याय के वर्तनापरिणाम क्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥ सूत्र की टीका सर्वार्थ-सिद्धि मे लिखते हे—

धर्मदीना द्रव्याणा स्वपर्यायनिर्वृत्ति प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां वाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षित काल ।

यानी—अपनी पर्याय के परिणमन मे स्वय प्रवृत्ति करने वाले धर्म अधर्म आकाश पुद्गल तथा मुक्त जीव एव ससारी जीवो का परिणमन बाहरी निमित्त कारण की सहायता के विना नही हो सकता । उस परिणमन मे सहायक काल द्रव्य है ।

साराश यह है कि जिस तरह मनुष्य चलता स्वय है परन्तु वह सुगम मार्ग, सडक, पगडडी आदि के विना (अगाध जल मे, खाई पर्वत आदि जगल ऊबड खाबड स्थानो मे तथा आकाश आदि मे) नही चल सकता, उसी तरह शुद्ध द्रव्य धर्म अधर्म, मुक्त जीव आदि तथा पुद्गल आदि अशुद्ध द्रव्य अपनी पर्याय पलटने की स्वय शक्ति रखते हुए भी काल द्रव्य की नैमित्तिक सहायता के बिना परिणमन नही कर सकते ।

आकाश द्रव्य

आकाश द्रव्य का निरूपण करते हुए पचास्तिकायकार श्री कुन्द-कुन्दाचार्य लिखते हैं—

सव्वेसि जीवाणं सेसाण तह य पुग्गलाण च ।
ज देदि विवरमखिल त लोए हवदि आयास ॥ ९० ॥

अर्थ—समस्त (ससारी तथा मुक्त) जीवो को तथा शेप धर्म अधर्म, काल और पुद्गलो को जो रहने के लिए खाली स्थान देता हे, वह आकाश द्रव्य हे ।

उसकी टीका मे श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते है—

षड्द्रव्यात्मके लोके सर्वेषा शेपद्रव्याणा यत्समस्तावकाशनिमित्त विशुद्धक्षेत्ररूप तदाकाशमिति ।

यानी—छह द्रव्यात्मक लोक मे जो शेप पाच द्रव्यो के समस्त अवकाश (स्थान) देने का निमित्त कारण है वह विशुद्ध क्षेत्र रूप आकाश द्रव्य है । (यहाँ टीकाकार ने **'निमित्त'** शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से किया है)

साराश यह है कि धर्मादिक द्रव्यो को तथा मुक्त जीवो को भी अपने रहने के लिये स्थान आकाश द्रव्य से ही प्राप्त होता है । आत्म-प्रदेशो मे रहने वाले मुक्त जीव भी आकाश द्रव्य की वाहरी सहायता के बिना किसी तरह रह नही सकते । इस तरह आकाश समस्त द्रव्यो का बहिरग आधार है और समस्त द्रव्य आधेय हैं ।

निष्कर्ष

इस तरह श्री कुन्दकुन्दाचार्य के द्रव्य-विधान के अनुसार प्रत्येक द्रव्य स्वसत्ता के अनुसार स्वतन्त्र होता हुआ भी वाहरी नैमित्तिक सहायता के विना क्षण भर भी नही रह सकता, उसको अपनी स्थिति के लिए, परिणमन के लिए तथा रहने के लिये अन्य द्रव्य की नैमित्तिक सहायता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है ।

अत छहो द्रव्य पारस्परिक सहयोग (परस्पर निमित्त-भूत सहायता करते हुये) से भूतकाल मे रहे है, वर्तमान मे रह रहे है और अनन्त भविष्य काल तक रहेगे ।

इस तरह श्री कुन्दकुन्दाचार्य के कथन से निमित्तकारण की विशुद्ध सार्थकता सिद्ध होती है।

श्री कहान जी स्वामी कहते है कि 'कार्य केवल उपादान कारण मे ही होता है, कार्य मे निमित्त कारण कुछ नही करता, आध्यात्मिक ग्रन्थो मे निमित्त कारण का नाम-उल्लेख भी नही।' जबकि कुन्दकुन्द आचार्य स्पष्ट कहते है कि धर्म द्रव्य की सहायता न मिलने के कारण मुक्त जीवो को नि सीम ऊर्ध्व गमन की शक्ति रहते हुए भी लोक शिखर पर रुक जाना पडता है। तथा श्री अमृतचन्द्र सूरि अपनी टीका मे प्रत्येक स्थल पर निमित्त कारण का उल्लेख कर रहे हैं।

आशा है श्री कहान जी स्वामी इन दोनो आचार्यो के वचनो पर श्रद्धा प्रगट करते हुए अपनी गलत धारणा मे सुधार करेंगे।

जीव मे विकार का कारण

आत्मा द्रव्य-दृष्टि से शुद्ध बुद्ध निरजन निर्विकार है। परन्तु वह अनादिकालीन परम्परा से अपने राग-द्वेष आदि विकारी परिणामो से युक्त योग-शक्ति द्वारा कार्माण वर्गणाओं का आकर्षण प्रतिसमय किया करता है। वे कार्माण वर्गणा आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लेष रूप मे बध कर कर्म रूप बन जाती है। जब उनका उदय काल आता है तब वे अपने प्रभाव से प्रभावित करके आत्मा मे राग द्वेष मोह अज्ञान आकुलता आदि विकार भाव उत्पन्न करने के बाद अलग हो जाती है।

उन राग द्वेष आदि भावो के कारण पुन कर्म बन्ध होता है। इस तरह द्रव्य कर्म (मोहनीय ज्ञानावरण आदि ८ कर्म) से भाव कर्म (राग द्वेष अज्ञान आदि विकृत भाव) होते है और भाव कर्मो के निमित्त से द्रव्य कर्म बना करते हैं। उन ही द्रव्य कर्मो की प्रेरणा से पराधीन ससारी आत्मा नरक निगोद आदि गतियो मे अपने द्रव्य प्राणो द्वारा जन्म मरण किया करता है।

अभव्य आत्मा अपनी स्वाभाविक अयोग्यता के कारण (सन्तान उत्पादन मे वन्ध्या स्त्री के समान) तथा दूरातिदूर भव्य आत्मा योग्यता होते

हुए भी उचित अवसर न मिल सकने के कारण (सन्तान उत्पत्ति मे बाल-विधवा ब्रह्मचारिणी स्त्री के समान) ससार से कदापि मुक्ति प्राप्त नही कर पाते। उनके सिवाय अन्य भव्य जीव जिस समय वीतराग देव तथा निर्ग्रन्थ गुरु के उपदेश का निमित्त पाकर श्रद्धालु (सम्यग्दृष्टि) बनता है, आत्मानुभूति को तथा आत्म-ज्ञान को प्राप्त करता है एव सासारिक शारीरिक मोह और विषय-भोगो की लालसा से विरक्त हो कर तपस्या करता है, तब द्रव्य-कर्मों से क्रमश छूटता जाता है जिससे उसके भाव-कर्म भी यथाशक्य दूर होते जाते है, आत्म-गुणो का मैल (विकार) हटता जाता है। जब समस्त द्रव्यकर्म दूर हो जाते है, तब आत्मा पूर्ण निर्विकार बन कर शुद्ध, बुद्ध, अजर, अमर, सर्वज्ञ, अनन्तबली, अनन्त-सुखी बन जाता है।

इस तरह कर्मबन्ध की निमित्त नैमित्तिक प्रक्रिया सक्षेप मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थो मे भी बतलाई है, यहा समयसार के कुछ प्रमाण उपस्थित करते है—

जीवपरिणामहेदु कम्मत्त पुग्गला परिणमति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥

अर्थ—जीव के रागद्वेष आदि परिणामो के निमित्तसे पुद्गलवर्गणाए ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणमन करती हैं और पुद्गल कर्म—ज्ञाना-वरण मोहनीय आदि—के निमित्त से जीव (अज्ञान रागद्वेष आदिरूप) परिणमन करता है।

यानी—श्री कुन्दकुन्द आचार्य के लिखे अनुसार भावकर्म के निमित्त से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के निमित्त से भावकर्म होते हैं।

यहाँ गाथा मे आचार्य महाराज ने 'निमित्त' शब्द का स्पष्ट रूप से प्रयोग करके निमित्त कारण की सार्थकता का समर्थन किया है।

कर्म आस्रव पर प्रकाश डालते हुए श्रीकुन्दकुन्द आचार्य लिखते है—

मिच्छत्त अविरमण कसायजोगा य सण्णसण्णा दु।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥

णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारण होंति ।

तेसि पि होदि जीवो, य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये जीव तथा अजीव रूप होते हैं। (भावास्रवरूप मिथ्यात्व आदि जीवात्मक हैं। द्रव्यास्रव रूप मिथ्यात्व आदि जडात्मक कर्म हैं) वे भावास्रवरूप अनेक प्रकार के मिथ्यात्व अविरति कषाय योग जीव मे उसके निज परिणाम रूप होते है। वे भावास्रव रूप जीव के मिथ्यात्व आदि परिणाम ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म—आस्रव के कारण होते है। उनका कारण रागद्वेष आदि भाव करने वाला जीव होता है।

यहाँ पर आचार्य श्री ने भावास्रवरूप जीव के परिणामो के निमित्त से ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्मों का आस्रव वतलाया है।

आत्मा अज्ञानी क्यो है

श्री कहान जी स्वामी कहते हैं कि आत्मा की ससार दशा मे कर्म निमित्त कारण नही हैं, आत्मा अपनी योग्यता से अज्ञानी मिथ्यात्वी आदि वना हुआ है, इस विषय मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण वच्छण्णो

ससारसमावण्णो, णवि जाणदि सव्वदो सव्व ॥१६०॥

अर्थ—आत्मा स्वभाव से सर्वज्ञाता द्रष्टा है किन्तु अपनी कर्मरूपी धूलि से आच्छादित (ढका हुआ) है, इस कारण ससारी वना हुआ सदा सव पदार्थों को नही जान पाता।

आत्मा मिथ्यात्वी क्यो है

सम्मत्तपडिणिवद्ध मिच्छत्त जिणवरेंहि परिकहिद ।

तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णादव्वो ॥१६१॥

णाणस्स पडिणिवद्ध, अण्णाण जिणवरेंहि परिकहिद ।

तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णादव्वो ॥१६२॥

चारित्तपडिणिवद्ध कसाय जिणवरेंहि परिकहिद ।

तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णादव्वो ॥१६३॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि सम्यक्त्व का प्रतिवन्धक निमित्त कारण मिथ्यात्व है, उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है। ज्ञान का रोकने वाला अज्ञान (ज्ञानावरणकर्म) है, उसके उदय से आत्मा को अज्ञानी (अपूर्णज्ञानी–अल्पज्ञानी) समझना चाहिए। आत्मा के चारित्र गुण का घातक कषाय मोहनीय कर्म है, उस कर्म के उदय से जीव चारित्रहीन होता है।

द्रव्यकर्म के उदय के निमित्त से जीव के गुणो का घात होना आचार्य ने समयसार मे कितना स्पष्ट वतलाया है, इस पर भी श्री कहान जी स्वामी तथा प० फूलचन्द्र जी निमित्त कारण को वलवान प्रेरक सार्थक कारण न माने तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उनके हृदय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य के लिए प्रामाणिक श्रद्धा नही है। और देखिये—

भावो कम्मणिमित्तो, कम्म पुण भावकारण हवदि।

ण दु तेसि खलु कत्ता, ण विणाभूदा तु कत्तार ॥६०॥ पचास्तिकाय

अर्थ—जीव के रागादिभाव मोहनीय आदि कर्मो के निमित्तसे होते है और मोहनीय आदि कर्म राग आदि भावो के निमित्त से होते है। परन्तु न तो जीव कर्मो का कर्त्ता है, न वे कर्म विना कर्ता के होते है।

निमित्त कारण से आत्मा विकारी वना हुआ है, इसका एक और प्रमाण समयसार का देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सय परिणमदि रायमादीहिं।

रज्जिजदि अण्णेहि दु सो रत्तादीहि दव्वेहिं ॥२७८॥

एव णाणी सुद्धो ण सय परिणमदि रायमादीहि।

राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहि दोसेहिं ॥ २७९ ॥

अर्थ—जैसे स्फटिक मणि शुद्ध सफेद है वह स्वय (अपने आप) लाल आदि रगो मे परिणमन नही करती किन्तु लाल हरे आदि डाक के

निमित्त से उसका सफेद रग लाल आदि हो जाता है। इसी तरह आत्मा स्वभाव से ज्ञानी (केवलज्ञानी सर्वज्ञ) और शुद्ध (निर्विकार वीतराग) है वह स्वय अज्ञानी, रागी, द्वेषी आदि विकारी परिणमन नही करता परन्तु अन्य राग, द्वेप आदि दोपो (मोहनीय ज्ञानावरण आदि कर्म-जन्य) द्वारा अज्ञानी रागी द्वेषी आदि परिणत होता है।

अट्ठविह पि य कम्म सव्व पोग्गलमय जिणा विंति।
जस्स फल त वुच्चइ, दुक्ख त विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण आदि आठो प्रकार के कर्मों को जिनेन्द्र भगवान ने पौद्गलिक कहा है। जब वह पक कर उदय मे आता है तब उसका फल आत्मा को दुख मिलता है, ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।

इस तरह निमित्त कारण द्वारा आत्मा के विकारी बनने की बीसियो गाथाऐ समयसार मे तथा प्रवचनसार और पचास्तिकाय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने लिखी है। श्री अमृतचन्द्रसूरि ने तो इन ग्रन्थो की टीका मे तथा अपने पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय एव तत्वार्थ सार ग्रन्थ मे कर्म-आस्रव, बन्ध तथा उनके फल मिलने का अच्छे विस्तार से वर्णन किया है। हम यहाँ विस्तार भय से इन दोनो आचार्यों के और अधिक आध्यात्मिक निमित्त नैमित्तिक प्रमाण नही देते। अब कुछ उदाहरण लौकिक कार्यो के यहा और दिये देते है।

भोजन और वस्त्र

रोटी गेहू की बनती है, इस कारण रोटी का उपादान कारण गेहू है। परन्तु गेहू के दानो से रोटी अपने आप नही बन जाती उसके बनने मे, गेहू का आटा बनाने के लिये चक्की और पिसनहारी निमित्त कारण है, फिर आटे मे नियत परिमाण से जल का डालना, उसको गूदना लोई बनाना, चकरे पर बेलन द्वारा बेलना, आग जला कर चूल्हे पर तवा गर्म करना, उस गर्म तवे पर रोटी को सेकना आदि क्रियाऐं

होती है तदनन्तर रोटी बनती है। इसके लिये जल, अग्नि, चकरा, बेलन, तवा आदि सहायक निमित्त कारणो की जिस तरह आवश्यकता है, उसी तरह प्रेरक निमित्त कारण—रसोई बनाने वाला निपुण रसोइया भी अनिवार्य आवश्यक है।

रसोइया प्रेरक निमित्त कारण इस लिये है कि वह उस आटे का उपयोग रोटी, पूडी, परामठा, हलवा, बाटी, कचौडी आदि कोई भी कार्य अपनी इच्छानुसार करता है। जो सभाव्य वस्तु उस आटे से रसोइया बनाना चाहता है, आटे को उस रूप मे बनना पडता है।

इस तरह बिना सहायक तथा प्रेरक निमित्त कारण के त्रिकाल मे भी गेहू रूप उपादान कारण से रोटी नही बन सकती।

वस्त्र की भी ऐसी ही बात है। वस्त्र का उपादान कारण कपास है परन्तु जब तक उस कपास को रुई बनाने वाले, रुई से सूत बनाने वाले तथा सूत से कपडा बुननेवाले विविध ओटने, धुनने, की मशीन चर्खा, करघा आदि सहायक निमित्त कारण तथा उन मशीनो के चलाने वाले, कातने वाले जुलाहा (बुनकर) आदि प्रेरक निमित्त कारण न हो तब तक कपास रूप उपादान कारण से वस्त्र त्रिकाल मे भी नही बन सकता। कपास की रुई, सूत, वस्त्र आदि प्रत्येक पर्याय के लिये भिन्न भिन्न सहायक निमित्त कारण और प्रेरक निमित्त कारण होने अनिवार्य है, उन समस्त निमित्त कारण समुदाय के बिना कपास रुई या सूत रूप उपादान कारण से वस्त्र कदापि नही बन सकता।

वस्त्रकार (जुलाहा) प्रेरक कारण इसी लिये है कि सूत की वस्त्र पर्याय करते समय उसकी ऐच्छिक प्रेरणा प्रधान रहती है।

आध्यात्मिक कार्य

श्री प० फूलचन्द जी शास्त्री हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत भाषा तथा

गणित, सिद्धान्त, व्याकरण, साहित्य, न्याय विषय के जो विद्वान बने है उनके इस आध्यात्मिक विकास कार्य मे केवल उन का उपादान आत्मा ही सफल नही हुआ, इस विद्वत्ता-रूप कार्य सम्पन्न होने मे पट्टी, सलेट, कापी, कागज, स्याही, दवात, कलम तथा विभिन्न प्रकार की पुस्तके तो सहायक निमित्त कारण हुई ही है किन्तु इसके साथ ही विभिन्न विषयो के ज्ञानवान, इच्छावान अध्यापक रूप प्रेरक निमित्त कारणो की भी प० फूलचन्द जी को शरण लेनी पडी। विभिन्न पाठशाला छात्रावासो के द्वार उन्हे खटखटाने पडे, अनेक कठिन परीक्षाओ को उत्तीर्ण करना पडा। इत्यादि सैकडो निमित्त कारणो ने जब आप के उपादान को सहायता प्रदान की तब आप का विद्या-विकास हुआ **अन्यथा आप विद्वान त्रिकाल मे भी न बन पाते।**

अध्यापक प्रेरक-निमित्त इस कारण है कि ठीक, गलत, अच्छा बुरा पढाने मे उनकी इच्छा प्रधान होती है।

श्री कहान जी स्वामी की आध्यात्मिक विद्वत्ता भी ऐसे ही विविध निमित्त कारणों द्वारा उनके उपादान से सम्पन्न हुई है।

प्रवचन मे निमित्त कारण

श्री कहान जी स्वामी प्रवचन करते है वह केवल उनके उपादान से ही नही हो जाता, उसमे प्रवचन भवन (स्वाध्यायशाला) विषय का आधारभूत शास्त्र, श्रोतागण, प्रकाश, तथा श्री कहान जी स्वामी का पौद्-गलिक मुख, नेत्र, कान, अनुकूल वातावरण आदि अनेक निमित्त कारण अनिवार्य रूप मे अपेक्षित होते है उनमे से यदि किसी भी कारण की कमी रहती है, तो उनका प्रवचन भी त्रुटिपूर्ण रहता है।

एक बार श्री कहान जी स्वामी के नेत्र दूखने लगे तो जब तक उनका वह निमित्त कारण नेत्र ठीक न हुआ तब तक उनका उपादान प्रवचन न कर पाया। उपादान कारण स्वस्थ समर्थ बनाने के लिये

उनके निमित्त कारण नेत्र को स्वस्थ करना आवश्यक हुआ तदर्थ तार
देकर डाक्टर बुलाना पडा।

श्री कहान जी स्वामी का उपादान आत्मा पौद्गलिक नेत्रो के
निमित्त से देखता है, उसमे प्रकाश का निमित्त तथा निकट क्षेत्र-स्थित
द्रव्य पदार्थों का निमित्त भी अपेक्षित रहता है। उनका आत्मा पौद्गलिक
कानो के निमित्त से सुनता है, नाक के निमित्त से सूघता है, रसना के
निमित्त से बोलता है, शब्दवर्गणाओ को अक्षर रूप प्रेरित करता है,
रस ज्ञान करता है, द्रव्य स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शज्ञान करता है, हाथो
द्वारा लिखता है, पैरो द्वारा चलता है। यदि ये पौद्गलिक निमित्त
कारण स्वामी जी के उपादान को न मिले तो उनका उपादान उक्त
कार्यो को त्रिकाल मे भी नही कर सकता।

क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति

दसणमोहक्खवणा पट्ठवगो कम्मभूमिजादो हु।
मणुसो केवलिमूले णिट्ठवगो होदि सव्वत्थ ।। ६४७ ।। गो०

यानी—दर्शनमोहनीय के क्षय का प्रारम्भ कर्मभूमिज मनुष्य केवल-
ज्ञानी के निकट करता है। उसकी पूर्णता सर्वत्र कर सकता है।

इसके अनुसार क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति केवली या श्रुतकेवली
के ही निकट होती है। यदि केवली श्रुतकेवली की निकटता न मिले
तो त्रिकाल मे भी किसी को क्षायिक सम्यक्त्व नही हो सकता। केवल-
ज्ञानी के निकट जब कोई भव्य प्राणी पहुचता है और उसका उपादान
सम्यक्त्व के योग्य होता है, तभी उसको क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति
होती है। इस तरह उपादान रूप भव्य जीव को केवली का निमित्त
मिलने पर क्षायिक सम्यक्त्व का उदय रूप कार्य होता है।

द्रव्यकर्म की प्रेरकता

ज्ञानावरण मोहनीय आदि आठ पौद्गलिक द्रव्यकर्म, आत्मा के
अज्ञान, राग द्वेष मिथ्यात्व, असयम, बलहीनता, नरकादि आयु, गति-

सम्बन्धी भावो के लिये प्राय प्रेरक निमित्त कारण होते है। आत्मा अज्ञान, मिथ्यात्व, पाशविक तथा नारकीय असह्य वेदना, रोग शोक आधि, व्याधि, उपाधि आदि अपने लिये रचमात्र भी नही चाहता परन्तु द्रव्यकर्म की प्रेरणा से उसे नरक निगोद मे जाना पडता है, कीडा, मकोडा बनना पडता है, अज्ञान, रोगी, शोकी दुखी, आकुलतामय, बलहीन बनना पडता है, अनिच्छा से मरना पडता है आदि। दूरातिदूर भव्य को तथा अभव्य आत्मा को तो इस दुखमयी परतन्त्रता तथा जन्म मरण की परम्परा से कभी छुटकारा मिलता ही नही।

इस लिये कर्म का उदय आत्मा को दुखमयी परिस्थिति मे पडने के लिये सदा प्रेरणा करता रहता है अत द्रव्यकर्म प्राय प्रेरक निमित्त कारण है।

परन्तु

श्री कहान जी स्वामी जिस भय से पौद्गलिक द्रव्य कर्म को आत्म-दुख के लिये प्रेरक निमित्त कारण स्वीकार करने मे सकोच कर रहे है, वह यथार्थ नही है। क्यो कि प्रेरक निमित्त कारण होते हुए भी कर्म विनश्वर है, अत भव्य जीव को मुक्त होने से वह द्रव्य-कर्म रोक भी नही सकता।

आत्मा के जिन निजी अश्रद्धा कुज्ञान असयम भावो से द्रव्यकर्म का उपार्जन होता है, कर्म-बन्धन पुष्ट होता है, यदि आत्मा सत्समागम से, वीतराग देव के उपदेश से, दर्शन आदि से प्रबुद्ध हो जावे, अपने उन भावो मे परिवर्तन ले आवे तो वह क्षण भर मे पर्वत जैसे महान् और कठिन मिथ्यात्व कर्म को फूक से रुई के समान उडा सकता है। तदनन्तर तप त्याग सयम के आचरण द्वारा असयम का जाल अपने ऊपर से उतार फेंके, तो भरत सम्राट की तरह अन्त-र्मुहूर्त मे सर्व-कर्म-मुक्त हो सकता है।

क्योकि कर्म-बन्धन भी आत्मा के (अनुचित) प्रयत्न से होता है और कर्म-मोचन भी आत्मा के (सुयुक्त) प्रयत्न से होता है। द्रव्य कर्म आत्मा का ऊपरी मल है, उसका स्वभाव, नही है, अत मैले कपडे से मैल छूटने के समान उस का छूटना असभव नही है किन्तु प्रयत्न-साध्य है। क्योकि द्रव्य कर्मो के साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नही है, छूटने योग्य सयोग सबन्ध है। इसी कारण प्रतिसमय कर्मोकी निर्जरा होती रहती है।

इस लिये ससार के लिये आत्मा का प्रेरक निमित्त कारण होते हुए भी ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म आत्मा की ससार से मुक्ति प्राप्ति का अनिवार्य प्रतिरोधक नही है।

अत नम्र निवेदन है कि श्री कहान जी स्वामी को कार्य-कारण भाव के विषय मे आचार्यो के आदेश, उपदेश तथा वास्तविक स्थिति को मानना चाहिये। इसी कार्य-कारण भाव पर द्रव्यानुयोग, करणा-नुयोग और चरणानुयोग, कर्मसिद्धान्त का समस्त विधान निर्भर है।

निमित्त कारणो की योजना

मुमुक्षु मित्र प्राय कहा करते हैं कि 'कार्य होते समय निमित्त अपने आप उपस्थित हो जाता है'। सो भी उनका भ्रम है। जैसे—ज्ञान विकास के लिये पुस्तक, अध्यापक, विद्यालय, छात्रावास आदि निमित्त कारणो की योजना उपादान को स्वय करनी पडती है, ये निमित कारण स्वय नही मिल जाते। इस के लिये द्रव्य खर्च करना पडता है, अनेक द्वार पर भटकना पडता है, सकटो का सामना करते हुए सैकडो हजारो मील दूर की धूल छाननी पडती है तब ज्ञान-लव की प्राप्ति रूप कार्य उपादान से हो पाता है।

उपादान कारण तो नित्य निगोदिया जीव के पास अनादि काल से है तब उस का उद्धार होने मे त्रुटि किस बात की है? मुमुक्षु मित्र गम्भीरता से विचार करे।

आज तक ऐसा कोई भी मुक्तिगामी आत्मा प्रकट नहीं हुआ जो वज्र-ऋषभनाराच सहनन, मनुष्यभव, पुरुषलिंग आदि शारीरिक निमित्त कारण, कर्मभूमिजता रूप क्षेत्रीय निमित्त कारण, सुषमा दुषमा, दुषमा सुषमा काल मे जन्म-रूप काल-कृत निमित्त कारण तथा सर्व परिग्रह-त्यागमयी मुनिदीक्षा, महाव्रत, गुप्ति, शुक्लध्यान आदि भाव-सम्बन्धी विविध निमित्त कारणो की बिना योजना के केवल अपने उपादान कारण से मुक्त हो गया हो।

पूर्वोक्त निमित्त कारणो मे से यदि एक की भी कमी रही तो मुक्ति कार्य कभी किसी का हुआ ही नही। हुआ हो तो श्री कहान जी स्वामी तथा प० फूलचन्द जी बतलावें।

हजारो बार आध्यात्मिक प्रवचन सुनकर भी और लाखो बार समवशरण मे जाकर भी यदि किसी का उद्धार नहीं हुआ तो उसका भी निमित्त कारण है। जब तक ससार-भ्रमण का निमित्त कारण या मुक्ति का प्रतिरोधक रूप निमित्त कारण मिथ्यात्व (अन्तरग निमित्त कारण) बना रहता है, तब तक प्रवचन, देवदर्शन आदि निमित्त कारण सफल नहीं होते।

आत्म-उद्धार के लिए बहिरङ्ग निमित्त कारणो (प्रवचन-श्रवण, वीतराग भगवान् दर्शन आदि) के साथ अन्तरङ्ग निमित्त कारणो (आत्म-गुणो के प्रतिबन्धक मिथ्यात्व आदि के अभाव रूप) का होना भी अनिवार्य है। न केवल उपादान से कार्य होता है और न केवल निमित्त कारण से कार्य होता है।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेय, कार्येषु ते द्रव्यगत स्वभाव'

यानी यह वस्तु स्वभाव है कि अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग कारणों की पूर्णता होने पर ही कार्य होता है।

बाहुबली का आतापन योग

बाहुबलि ने एक वर्ष तक अडिग खडे रहकर आतापन योग किया

जिससे उनको अनेक ऋद्धियाँ सिद्धियाँ प्राप्त हो गई, परन्तु मान कपाय के सूक्ष्म अश के निमित्त से वे मुक्त न हो सके। जब भरत चक्रवर्ती ने आकर उनकी पूजा की, तब चक्रवर्ती के नमस्कार के निमित्त से उनका मान कपाय दूर हुआ और भगवान् ऋषभनाथ से भी पहले वे मुक्त हो गये। इसी बात को कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड की ४४ वी गाथा मे कहा है।

चक्रवर्ती के निमित्त से तीर्थंकर की दिव्यध्वनि असमय मे भी होने लगती है।

भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि

भगवान् महावीर को केवल ज्ञान हो जाने पर ६६ दिन तक समवशरण बनता रहा, उनका विहार भी होता रहा परन्तु गणधर का निमित्त प्राप्त न होने के कारण उनका समर्थ उपादान कारण दिव्यध्वनि न कर सका। जब इन्द्रभूति गौतम उनके समवशरण मे आया तब गणधर पद पर उसके आ जाने के निमित्त से ६६ दिन पीछे भगवान् की दिव्यध्वनि स्वय प्रारम्भ हुई। उधर महावीर भगवान् के दर्शन के निमित्त से गौतम का मिथ्यात्व और चारित्र मोहनीय का बहुभाग नष्ट हो गया जिससे वह सम्यक् श्रद्धालु तथा मनपर्यय ज्ञानी मुनि बन गया। इस तरह निमित्त कारण से दोनो के दो कार्य सम्पन्न हुए। इस विपय मे जयधवला के वाक्य भी निमित्त कारण के समर्थक है।

श्रेणिक राजा

बौद्ध धर्म अनुयायी श्रेणिक राजा शिकार भी खेलता था। उसने सातवे नरक का बंध कर लिया था परन्तु जैन धर्म धारण करने पर श्री यशोधर मुनि के निमित्त से, चेलना रानी के निमित्त से तथा भगवान् महावीर के निमित्त से उसके उपादान आत्मा मे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया।

केवल ज्ञान का उदय

केवल ज्ञान के उदय के विषय मे श्री कहान जी स्वामी की धारणा गलत है। इस विषय मे आपकी मान्यता है कि "अभावसे भाव रूप कार्य नही होता, तदनुसार केवल ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान का उदय नहीं होता, वल्कि केवल-ज्ञान होने पर केवल ज्ञानावरण का क्षय होता है।"

यह मान्यता सर्वथा उलटी है। एक तो यह समझना ही गलत है कि ध्वस अभाव से भाव (रूप कार्य) नही होता क्योकि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप जो वस्तु का स्वभाव है, तदनुसार द्रव्य मे प्रतिसमय नवीन पर्यायकी उत्पत्ति पहली पर्याय के नाश होने पर ही होती हे। अत पूर्व-पर्याय का नाश उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति का कारण स्वभावत होता है।

मिथ्यात्व का नाश होने का नाम ही सम्यक्त्व का उदय है। इस का अभिप्राय यही है कि सम्यक्त्व तभी प्रगट होता है जव कि उसका प्रतिवन्धक कारण मिथ्यात्व कर्म का अभाव हो। मिथ्यात्व के उदय होते हुए त्रिकाल मे भी सम्यक्त्व नही होता है, न हो सकता है।

देव आयु के अभाव होने के पश्चात् ही अग्रिम भवकी मनुष्य आयु का उदय होता है। ऐसा कभी नही हुआ, न हो सकता है कि देव मरण तो पीछे करे किन्तु उससे पहले वह मनुष्य शरीर प्राप्त करले। लकडी जलकर नष्ट हो जायगी, तभी भस्म (राख) की उत्पत्ति होगी। पहले राख उत्पन्न हो जावे पीछे लकडी का जलकर नाश हो, ऐसा उलटा सिद्धान्त तो कोई भी विवेकशील व्यक्ति नहीं वना सकता।

छत पर चढते समय क्रम से पहली, दूसरी, तीसरी आदि सीढियो पर पैर रखते हुए जाना पडता है। अगली सीढियो पर तभी चढा जाता हे जव पहली सीडी पर से पैर उठा लिया जावे। यानी—पहली

सीढी पर आरोहण के अभाव से ही अगली सीढी का आरोहण होता है।

इस कारण एक तो पूर्व-पर्याय का अभाव उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति रूप होता है, वह अभाव सर्वथा अभाव नही होता। उत्तर-पर्याय के उत्पाद-रूप होता है। अत आत्मा से केवल ज्ञानावरण पौद्-गलिक द्रव्य कर्म के क्षय या अभाव का अभिप्राय उस केवल ज्ञाना-वरण की अकर्म रूप नवीन पर्याय का होना है। जैसे कि कपडे मे मैल का अभाव होकर जो स्वच्छता प्रगट होती है, तव वह मैल, धूल, मिट्टी, कीचड आदि अन्य पर्याय रूप हो जाता है सर्वथा अपने अस्तित्व से नष्ट नही होता। वीज पर्याय का नष्ट होना ही अकुर की उत्पत्ति है। पहले वीज गलकर नष्ट होता है तभी उसकी उत्तर-पर्याय अकुर उत्पन्न होती हे। तथा च कपडा स्वच्छ तभी होता है जवकि उस स्वच्छता को ढकने वाला (प्रतिवन्धक) मैल कपडे से हट जायगा। सूर्य का प्रकाश तभी होगा जवकि गहरे काले वादल, काली आँधी आदि प्रकाश के प्रतिवन्धक कारण हट जायेंगे। आसाम मे वर्षा ऋतु के समय आकाश मे १५-१५ वीस-वीस दिन तक लगातार वरसात के वादल छाये रहते है जिससे दो-दो, तीन-तीन सप्ताह तक जनता को सूर्य के दर्शन ही नही होते।

तदनुसार प्रतिवन्धक कारण केवल ज्ञानावरण कर्म के हटने पर ही केवलज्ञान का उदय हो सकता है, उससे पहले नही।

इन युक्तियो के साथ इस विषय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखित आगम प्रमाण देकर इस विषय को समाप्त करते है—

पचास्तिकाय मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य वतलाते है—

हेतुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५०॥
कम्मस्साभावेण य, सव्वण्हू सव्वलोगदरसीय।
पावदि इदियरहिद अव्वावाह सुहमणत ॥१५१॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष के कर्मबन्ध के कारण मोहराग द्वेष के अभाव हो जाने से आस्रव का निरोध हो जाता है। आस्रव न होने से कर्मों का अभाव हो जाता है। कर्मों का अभाव हो जाने से आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है और अतीन्द्रिय अव्याबाध अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

इसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है—

"कर्माभावेन भवति सार्वज्ञम्, सर्वदर्शित्वमव्याबाधमिन्द्रियव्यापारातीतमनन्तसुखत्वञ्च।"

यानी—कर्मों के अभाव से आत्मा को सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता तथा अव्याबाध, अतीन्द्रिय अनन्त सुख प्राप्त हाता है।

तत्वार्थसार मे श्री अमृतचन्द्रसूरि लिखते है—

घातिकर्मक्षयोत्पन्न, केवल सर्वभावगम् ॥३१॥

यानी—घातिया कर्मो के क्षय से समस्त पदार्थो को जानने वाला केवल ज्ञान होता है।

आशा है श्री कहान जी स्वामी श्री कुन्दकुन्द आचार्य तथा श्री अमृतचन्द्र सूरि के इस उल्लेख पर श्रद्धा रखते हुए अपनी गलत धारणा मे सुधार कर लेगे।

क्रमबद्ध पर्याय

प्रत्येक जड या चेतन पदार्थ मे विभिन्न तरह की अनेक उपादान शक्तिया होती हैं, अत उन पदार्थो को जब जहा जैसा निमित्त कारण मिल जाता है, उसी प्रकार उस पदार्थ का परिणमन हुआ करता है।

शुद्ध पदार्थ

मुक्त जीव तथा धर्म, अधर्म, आकाश ओर काल, ये शुद्ध पदार्थ हैं, अत इनका सदा शुद्ध परिणमन हुआ करता है। क्योकि इन द्रव्यो के अन्तरग कारण (अपनी शुद्ध उपादान शक्तिया) मे कभी कुछ फेर फार नही होती और न इनके बहिरग निमित्त कारणो के पारस्परिक

सहयोग रूप(गति, स्थिति, अवकाश-प्रदान, वर्तना करने रूप) कारण मे कभी कोई विकार आता है। धर्म द्रव्य मुक्त जीवो को ऊर्ध्व-गमन मे और अधर्म द्रव्य लोक शिखर पर ठहर जाने मे सदा निर्विकार रूप से वाहरी निमित्त रूप सहायता करता हे, आकाश द्रव्य उन शुद्ध द्रव्यो को अवकाश प्रदान करने मे कुछ परिवर्तन नही करता और न काल द्रव्य प्रतिक्षण पर्याय पलटने मे अपनी नैमित्तिक सहायता मे कुछ परिवर्तन करता है। अत उन द्रव्यो की जैसी पर्याय अनादि काल से होती रही है, वैसी ही वर्तमान काल मे हो रही हे और उसी तरह का पर्याय-परिवर्तन का क्रम अनन्त भविष्य काल तक चलता रहेगा। अन्य कोई अशुद्ध अनियत निमित्त कारण उनकी पर्याय के लिये होता नही है।

इस लिये शुद्ध द्रव्यो की पर्याय क्रमबद्ध हुआ करती है।

अशुद्ध द्रव्य

ससारी जीव तथा पुद्गल द्रव्य मे अपनी वैभाविक शक्ति के कारण विकृत विभाव परिणमन हुआ करता है, अत उनके पर्याय-परिवर्तन विविध रूप से हुआ करते हं। उनको जव जहा जैसे निमित्त कारण मिलते हैं, तव वहा उनकी पर्याय वैसी हो जाती है।

एक ही माता के उदर से उत्पन्न हुए दो पुत्रो को यदि विभिन्न दो कुटुम्बो को पालन पोपण के लिये दे दिया जाय तो सदाचारी शिक्षित कुटुम्व के निमित्त से एक लडका शिक्षित सदाचारी वन जाता हे और दूसरा लडका दुराचारी अशिक्षित दुर्व्यसनी कुटुम्व के निमित्त से दुराचारी अशिक्षित वन जाता हे।

कुछ समय पीछे उस दुराचारी लडके को सदाचारी प्रभावशाली व्यक्ति का निमित्त मिले तो वह फिर सदाचारी वन जाता हे और और सदाचारी लडका कुसगति के निमित्त से दुराचारी वन जाता है।

आकाश से वरसे हुए जल को यदि हिमालय आदि वर्फीले प्रदेश का

निमित्त मिले तो वह बर्फ बन जाता है, उस बर्फ को सूर्य की उष्ण किरणों का निमित्त मिले तो वह पानी बन जाती है। बादल से पतित जल बूंदें यदि खारी झील या समुद्र में आ गिरें तो उस निमित्त से वे खारा जल बन जाती हैं, यदि वे उष्ण स्रोत में आ गिरें तो वे गर्म जल हो जाती हैं। गर्म स्रोत का वही जल यदि घड़े में भर कर अलग रख दिया जावे तो वह गर्म जल ठंडा हो जाता है। ठंडे जल को अग्नि का निमित्त मिलता है तो वह गर्म हो जाता है।

इस तरह अशुद्ध जीव तथा पुद्गल पदार्थों की पर्याय निमित्त कारणों के अनुसार पलटती रहती है, उनका कोई नियत निश्चित एक-सा रूप नहीं रहता।

संसारी जीव अपनी योग शक्ति तथा कषाय भाव के अनुसार जैसे उसे बाहरी निमित्त कारण मिलते हैं। उनके अनुसार कभी शुभ कर्म बन्ध करता है, कभी अशुभ कर्म का बन्ध करता है, और कभी प्रसन्न होता है, कभी रोता है, दुखी होता है, कभी हंसता है। कुछ क्षण तक सुखी होता है, कभी नरक जाता है, कभी मनुष्य पाता है तो कभी निगोद तथा अन्य पशु शरीर में जन्म लेता है और कभी स्वर्ग का चक्कर लगा आता है। चौरासी लाख योनियों में विविध प्रकार से जन्म लेता है और विविध रूप से मरता है। इस तरह उसकी पर्याय निमित्त कारण अनुसार अनिश्चित रहती है। उनका कभी ठीक क्रम होता है, कभी उस क्रम में विघ्न पड़ जाता है। इस कारण संसारी जीव तथा पुद्गल द्रव्य की क्रमबद्ध तथा अक्रमबद्ध दोनों तरह की पर्यायें हुआ करती हैं।

कर्म का क्रम अक्रम

संसारी जीव के राग द्वेष, शोक, हर्ष, काम, क्रोध, मद, मोह, माया, लोभ आदि रूप जैसे परिणाम मन वचन काय की प्रवृत्ति के साथ होते हैं उनके निमित्त से वैसी ही प्रकृति प्रदेश, अनुभाग स्थिति लिये हुये कार्माण स्कन्ध आकर्षित हो कर कर्म रूप बना करते हैं। तदनन्तर अपनी स्थिति के अथ अनुसार प्रति समय उदय आने योग्य उन कर्मों के

(निषेक)निश्चित हो जाते हैं तदनुसार ही वह कर्मांग प्रतिक्षण उदय आया करता है और अपनी निश्चित प्रकृति तथा शक्ति के अनुरूप जीव को अपना शुभ अशुभ फल देकर झर जाया करता है।

उस कर्म उदय के प्रभाव से आत्मा के जैसे अच्छे बुरे, सुखी दु खी परिणाम होते है उसके अनुसार उस समय नया कर्म-वन्ध होता है। इस तरह भाव कर्म (आत्मा के राग द्वेष आदि भावो) से द्रव्य कर्म (ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का पौद्गलिक कर्म) और द्रव्य-कर्म से भाव कर्म प्रतिक्षण वना करता है। इसी तरह की कर्म-परम्परा ससारी जीव की अनादि काल से चली आई है और अनन्त काल तक चली जायगी।

परन्तु इस कर्म-परम्परा मे भी अन्तरग तथा वहिरग निमित्त कारणो से क्रमभग भी हुआ करता है।

पहले तो कर्मवन्ध की परम्परा ही अनिश्चित अक्रम रूप है। जीव के कभी कैसे ही और कभी कैसे ही भाव विविधि निमित्तो से हुआ करते है, उनका कोई भी क्रम कोई व्यक्ति निश्चित नही कर सकता। अत जीव के भावो की परम्परा कभी शुभ रूप मे चलती है तो बुरे निमित्त मिलने से वह शुभ क्रम परम्परा टूट जाती है, अशुभ क्रम चल पडता है। इस लिये कर्मो का वन्ध किसी निश्चित क्रम से नही होता। उसमे क्रमवद्ध पर्याय प्राय नही होती।

दूसरे—वाँधे हुए कर्मो का उदय काल, फल देने का क्रम, अनुभाग आदि भी क्रमवद्ध ही चलता रहे, ऐसा नही होता।

ज्ञानावरण-दर्शनावरण अन्तराय कर्म के कुछ सर्वघाती स्पर्द्धक उदय मे आते हुए भी अपने अनुभाग के अनुसार विना फल दिये भी उदया-भावी क्षय के रूप मे झरते रहते है, इसी कारण ससारी जीव के थोडा वहुत (क्षायोपशमिक) ज्ञान, दर्शन, वल, दान, लाभ, भोग, उपभोग (लब्धिया) प्रगट भी रहे आते हैं। इस तरह ज्ञानावरण दर्शनावरण

अन्तराय कर्म के निश्चित अनुभाग का क्रम प्रत्येक जीव के प्रति-समय भंग होता रहता है।

तथापि-आत्मा के परिणामों के उतार चढ़ाव के अनुसार बांधे हुये कर्मों की नियत स्थिति तथा अनुभाग मे भी उत्कर्षण (स्थिति तथा अनुभाग का बढ़ जाना), अपकर्षण (स्थिति और अनुभाग का घट जाना) रूप से नव नव क्रम भंग हो कर परिवर्तन हो जाता है।

श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि पर प्राणघातक विचारों से आक्रमण करके सातवें नरक की आयु का बंध किया था परन्तु उसका वह आयु-बन्ध उसी क्रम से स्थिर न रहा। श्रेणिक की धार्मिक भावना से उस नरक की स्थिति मे महान परिवर्तन हो कर पहले नरक की केवल ८४ हजार वर्ष प्रमाण ही स्थिति रह गई। इस तरह उस आयु कर्म की स्थिति अनुभाग दोनों घट गये।

कभी कभी कर्म बाहरी निमित्त कारणों द्वारा निश्चित समय से पहले भी (उदीरणा रूप) उदय मे आ जाता है। आहार, परिग्रह, भय, मैथुन नामक चार संज्ञाएं ऐसे ही मोहनीय कर्म के नियत समय से पहले उदय मे हो जाने के कारण हुआ करती है। विस्तार भय से हम यहाँ 'आहार दंसणेण य' आदि चारों संज्ञाओं वाली गोम्मटसार की गाथाओं को नहीं दे रहे।

कभी कभी कर्म अपनी प्रकृति से भी पलट जाता है। जैसे किसी ने अपने अशुभ परिणामों से असाता वेदनीय आदि अशुभ कर्म का बन्ध किया हो तो कालान्तर मे शुभ परिणामों के निमित्त से वह असाता वेदनीय कर्म पलट कर साता वेदनीय रूप (संक्रमण रूप) मे हो जाता है।

अन्यथा फल

कभी बाहरी निमित्त-कारणों के अनुसार प्रतिकूल परिस्थिति के कारण कर्म का फल उलट पुलट हो जाता है। जैसे केवल-ज्ञानी के

अर्हन्त अवस्था मे पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म उदय आते समय साता वेदनीय रूप हो कर सुख देते हुए झर जाता है।

सर्वार्थसिद्धि आदि स्वर्ग निवासी देवो के तथा भोग भूमि के मनुष्यो के, तथा पशुओ के भी पूर्वबद्ध असाता वेदनीय कर्म जब यथासमय उदय आता है, तब बाहरी परिस्थिति (वातावरण) दु खदायक न होने से वह दुखदायी कर्म बिना दु ख दिए झर जाता है।

नरक मे रहने वाले नारकियो के पूर्व-सचित साता वेदनीय कर्म जब यथासमय उदय मे आता है, तब अपने निर्द्धारित अनुभाग क्रम के अनुसार उसे उन नारकियो को सुख देना चाहिये था परन्तु नरक के बाहरी निमित्त कारण सुख देने के अनुकूल नही होते, इस कारण वह साता वेदनीय कर्म का उदय भी सुखकारक न होकर, दुखदायक ही बन जाता है।

इत्यादि विविध रूप से कर्मो की क्रमबद्ध पर्याय छिन्न-भिन्न होकर अक्रम रूप भी जब तब होती रहती है।

अकाल मरण

जो आयु कर्म निकाचित रूप मे बधता है उसमे उत्कर्षण उदीरण सक्रमण रूप परिवर्तन नही होता वह अपना फल नियत समय पर अवश्य देता है। जैसे भगवान नेमिनाथ द्वारा की हुई भविष्यवाणी के अनुसार द्वारिका का भस्म होना द्वीपायन मुनि द्वारा उसी समय हुआ। कृष्ण का मरण जरत्कुमार द्वारा ही हुआ। उन दोनो घटनाओ के टालने के सभी उपाय व्यर्थ हुए।

परन्तु जो कर्म निकाचित नही होता उसमे उदीरणा आदि रूप मे परिवर्तन हो जाया करता है। अकाल-मरण की घटना भी उसी परिवर्तनीय अत एव अक्रमिक पर्याय का सैद्धान्तिक एव आध्यात्मिक उदाहरण है।

जब आयु कर्म का उदय प्रारम्भ हो जाता है, तब उस आयु कर्म की स्थिति मे हीन अधिक होने रूप हेर-फेर नही होती।

ऐसा होते हुए भी कारण वश (दुर्घटना आदि से) तीर्थंकर के सिवाय कर्मभूमिज मनुष्य तिर्यंचो की आयु की उदीरणा (निश्चित समय से पहले उदय या आयु की समाप्ति) हो जाती है जिसको कि शास्त्रीय भाषा मे अपमृत्यु, अकालमृत्यु, या अकालमरण कहते है।

जैसे दो दीपक जल रहे है। उनमे से एक का तेल और बत्ती जल चुकी है, इसलिए वह स्वय बुझने वाला है। दूसरे दीपक मैं अभी और कुछ समय तक जलते रहने के लिए तेल और बत्ती विद्यमान है। उसी समय बडी भयानक आँधी आई। उस प्रबल आँधी से दोनो दीपक गिरकर बुझ गये। इनमे से पहला दीपक तो बत्ती और तेल समाप्त हो जाने के कारण अपने समय पर ही बुझा परन्तु दूसरा दीपक तेल बत्ती के रहते हुए भी असमय मे बुझ गया।

इसी तरह कोई कर्मभूमिया जीव तो अपनी आयु यथा समय समाप्त हो जाने पर स्वाभाविक रूप से मरते है और कोई जीव किसी दुर्घटना आदि के कारण आयु के निश्चित समय से पहले भी मर जाते है।

अकाल-मृत्यु का विधान अनेक प्रामाणिक सिद्धान्त-ग्रन्थो मे यथा-स्थान पाया जाता है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भावपाहुड की निम्न-लिखित गाथाओ मे अकालमृत्यु का उल्लेख किया है—

विसवेयणरत्तक्खय, भयसत्थग्गहणसकिलेसेण।
आहारुस्सासाण, णिरोहणाखिज्जए आऊ ॥२५॥
हिमजलणसलिलगुरुयर, पव्वयतरुरुहणपडणभगेहिं।
रसविज्जजोयधारणअणयपसगेहिं विविहेहिं ॥२६॥
इय तिरियमणुयजम्मे, सुइर उववज्जिऊण बहुवार।
अवमिच्चुमहादुक्ख, तिव्व पत्तोसि त मित्त ॥२७॥

यानी—विष-भक्षण, असह्य पीडा, रक्त के क्षय (शरीर से बहुत सा खून निकल जाने) से, भारी भय से, किसी तीर बन्दूक तलवार

आदि अस्त्र-शस्त्र के घात से, भोजन-पान तथा श्वास रुक जाने से आयु (असमय मे) समाप्त हो जाती है। तथा वर्फ मे दव जाने से, पानी मे डूब जाने से, पर्वत तथा वृक्ष आदि से गिर पडने से, किसी रसायन के विकार से, बिजली गिरने से तथा पृथ्वी जल के भीतर समाधि लेने आदि विविध प्रकार के दुर्घटना-मय प्रसगो से भी आयु समाप्त हो जाती है। इस तरह हे मित्र ! तूने तिर्यच और मनुष्य भवो मे अनेक वार उत्पन्न होकर अपमृत्यु का महान दुख पाया है।

इस तरह अकाल-मृत्यु का विधान श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने विदेह क्षेत्र मे पहुँचकर जैसे श्री १००८ सीमन्धर तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि से सुना तथा गुरु परम्परा से भगवान महावीर की वाणी द्वारा जाना वही विधान उन्होने ऊपर लिखी गाथाओ द्वारा वतलाया है।

अकालमृत्यु के विधान द्वारा क्रमवद्ध पर्याय का सिद्धान्त छिन्न-भिन्न हो जाता है।

असंगत तर्क

अकालमृत्यु का सिद्धान्त गलत ठहराने के अभिप्राय से क्रमवद्ध पर्याय के एकान्तवादी स्वामिकार्तिकयानुप्रेक्षा की निम्नलिखित गाथाओ का आश्रय लेते है—

ज जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णाद जिरणेणणियद जम्म वा अहव मरण वा ॥३२१॥
त तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदु इदो वा अह जिणिदो वा ॥३२२॥
एव जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो सकदि सोहु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ने जिस जीव का जिस समय जिस स्थान पर जैसे निश्चित जन्म लेना अथवा मरना जाना है, उस जीव का जन्म या मरण उसी समय, उसी क्षेत्र मे उसी प्रकार होता है। इस

को विचलित (आगे पीछे या इधर-उधर) करने की शक्ति किसी भी इन्द्र आदि मे नही है। इस तरह द्रव्यो की समस्त पर्यायो के विषय मे नि.शङ्क होकर जो जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमे किसी प्रकार की शका करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

जो मनुष्य मरण से बचने के लिए देवी-देवताओ की आराधना करते है, उन मनुष्यो को सम्बोधन करने के लिए स्वामी कार्तिकेय ने ये गाथाये सामान्य तौर से लिखी है। इन गाथाओ द्वारा उन्होने अकालमरण का निषेध नही किया, जैसा कि सोनगढ के सन्त, उनके समर्थक विद्वान और उनके अनुयायी समझ बैठे है।

इसी प्रकार पद्मपुराण के २६ वे अध्याय के निम्नलिखित श्लोक का भाव भी नियतिवाद का पोषक नही—

यत्प्राप्तव्य यदा येन यत्र यावद्यतोपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥८३॥

यानी—'जो जब जिसको जैसे मिलना होता है, तब तहाँ उसको वह वैसे मिलता है।' यहाँ राजा दशरथ के इस प्रकार विचार करने का भी तात्पर्य यही है कि जब तक निमित्त उपादान, अन्तरग बहिरग सब कारण नही मिलते तब तक कोई कार्य नहीं होता।

त्रिलोकवर्ती पदार्थो की भूत काल मे जैसी पर्याये हुई और भविष्य काल मे जैसी पर्याये होगी, सर्वज्ञ उनको उसी तरह जानता है और जैसा जानता है वीतराग आप्त होने के कारण वैसा ही दिव्यध्वनि से कहता है। है। कुछ जानता हो और अन्य कुछ कहता हो, ऐसा नही है। तदनुसार आयु कर्म की निश्चित स्थिति से पहले यानी अकाल मे जिन जीवो की मृत्यु को सर्वज्ञ जानते है अपने उसी ज्ञान के अनुसार उस असमय की मृत्यु को उन्होने अकाल मृत्यु बतलाया है। अत अल्पज्ञ व्यक्ति तो कदाचित ज्ञान की कमी से काल मृत्यु को भी अकाल मृत्यु समझ ले परन्तु

सर्वज्ञ तो ऐसी भूल नही कर सकता। वह तो काल मृत्यु को 'काल मृत्यु' और अकाल मृत्यु को 'अकाल मृत्यु' ही जानेगा।

उसे कालमृत्यु का भी निश्चित समय ज्ञात होता है और अकाल मृत्यु के समय को भी वह जानता हे, फिर भी वह अकाल मृत्यु को अकाल मृत्यु ही जानता है और उसे अकाल मृत्यु ही कहता है।

जैसे कि वह क्रमश आकाश के प्रत्येक प्रदेश को स्पर्श करते हुए एक समय मे १४ राजु गमन करने वाले परमाणु के प्रतिप्रदेश स्पर्श करने वाले काल को जानता है किन्तु उन असख्य प्रदेशो के स्पर्श को सर्वज्ञ ने एक ही समय मे वतलाया है।

सर्वज्ञ भूतकाल के और भविष्यत काल के ससस्त समयो को पूर्ण जानता है, अलोकाकाश के अनत प्रदेशो की समस्त सख्या को भी सर्वज्ञ जानता है परन्तु उसे वह 'सात' न कहकर 'अनत' ही कहता है।

हम भी इस बात को मानते है कि केवल ज्ञान द्वारा जानी हुई घटना उसी तरह-उसी समय अवश्य होती है।

ज्ञान कारण नहीं है

ज्ञानगुण का कार्य पदार्थों को जानना है, वह किसी भी पर-पदार्थ की किसी भी पर्याय का निमित्त कारण नही है। अत केवल ज्ञान अपने समय क्रम से पदार्थो की अक्रमिक पर्यायो को क्रमवद्ध नही कर सकता। पदार्थों की क्रमिक या अक्रमिक पर्यायो का सम्वन्ध अपने क्रमिक या अक्रमिक निमित्त कारणो के साथ हे सर्वज्ञ के ज्ञान के साथ नही है।

अत सर्वज्ञ के ज्ञान के साथ अन्य पदार्थों की पर्यायो को जोडकर एकान्तवाद की पुष्टि करना गलत है।

आत्मा का ज्ञान गुण, दर्पण के समान है। जिस तरह दर्पण मे प्रतिविम्व उसी प्रकार का पडा करता है, जिस तरह उसमे झलकने

वाले अन्य पदार्थ का रूप आकार होता है। सुन्दर मुख उसमे सुन्दर दिखाई देगा। और हवशी का असुन्दर मुख उसमे असुन्दर झलकेगा। यानी—दर्पण मे झलकने वाला प्रतिविम्व वाहरी अन्य पदार्थों के अनुसार झलकता है, दर्पण के अनुमार वाहरी पदार्थो का रून आकार नही हुआ करता।

तदनुसार सर्वज्ञ के ज्ञान का परिणमन ज्ञेय (जानने योग्य त्रिलोक-वर्ती समस्त) पदार्थों के अनुमार हुआ करता है। जो जीव जिस पर्याय मे जव जन्म लेगा और जो जीव जिस समय जहाँ जैसे मरेगा, सर्वज्ञ के ज्ञान मे वह जन्म-मरण की घटना क्षेत्र काल और विधि अनुमार उसी तरह अंकित होगी। यदि कोई मनुष्य अपना सिर पृथ्वी पर टिकाकर अपने पैर आकाश की ओर उठा कर शीर्पासन कर रहा होगा तो सर्वज्ञ के ज्ञान मे भी उसी प्रकार उसका उलटा आकार झलकेगा (जाना जायगा)। यदि कोई व्यक्ति पीठ की ओर उलटा चल रहा होगा, तो उसकी उलटी चाल भी सर्वज्ञ के ज्ञान मे उसी तरह उलटे रूप से ज्ञात होगी। रीछ पेड पर उलटा चढता है तो सर्वज्ञ का ज्ञान भी उसको उलटा चढता हुआ ही जानेगा, मुख ऊपर करके सीधा चढता हुआ नहीं जान सकता।

इसी तरह यदि धनदेव नामक मनुष्य ८० वर्ष की अपनी आयु वाँधकर मनुष्य पर्याय मे आया किन्तु वडा वाजार कलकत्ता मे सडक पार (क्रास) करता हुआ एक कार की चपेट मे आकर ४५ वर्ष की आयु मे ही मर गया। इस तरह मोटर की दुर्घटना से उसकी अकाल मे (अपने आयु के ८० वर्ष पूर्ण करने से पहले) मृत्यु हो गई। तो सर्वज्ञ का ज्ञान भी इस वात को ठीक इसी अकाल-मृत्यु के रूप मे जानेगा।

धनदेव की यह अकाल मृत्यु सर्वज्ञ के ज्ञान मे हजारो वर्ष पहले जान ली गई थी, उसी समय पर उस अभागे की मृत्यु हुई। इस तरह हजारो वर्ष पहले सर्वज्ञ ने जो जाना, वह उस होने वाली घटना के

अनुसार ही जाना। यानी—होने वाली उस अकाल-मृत्यु के अनुसार सर्वज्ञ का ज्ञान भविष्यत वर्तमान भूतकाल के अनुरूप 'परिणमन करता रहा। इस तरह सर्वज्ञ के ज्ञान के परिणमन मे वह अकाल-मृत्यु है। अकाल-मृत्यु का आधार वह दुर्घटना है, सर्वज्ञ का ज्ञान रचमात्र भी नही है।

एक अन्य भ्रम

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार मे निम्नलिखित दो गाथाएँ लिखी है—

दविय ज उप्पज्जइ गुरोहि त तेहि जाणसु अणण्ण।
जह कडयादीहि दु पज्जएहि कणय अणण्णमिह ॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते।
ज जीवमजीव वा तेहिमणण्ण वियारोति ॥३०९॥

अर्थ—जो द्रव्य जिन गुणो से उत्पन्न होता हे वह उन गुणो से अनन्य (एक-तन्मय) है। जैसे सोने के कडे अगूठी आदि पर्यायो से सोना अनन्य है तद्रूप तन्मय है। जीवद्रव्य के तथा अजीवद्रव्य के जो परिणमन (पर्याय) सिद्धान्त ग्रन्थ मे वतलाये हैं वह जीव तथा अजीव अपने उन परिणामो से अनन्य (अभिन्न) है।

यानी–जीव की पर्याय चैतन्यरूप ही होती है और जड पुद्गल की पर्याय जड पुद्गल रूप ही होती है।

इन गाथाओ पर टीका करते हुए श्री अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है–

जीवोहि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीवएव, नाजीव एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीव। सर्वद्रव्याणा स्वपरिणामै सह तादात्म्यात् ककणादिपर्यायै काञ्चनवत्। एवहि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणा द्रव्यान्तरेण सहोत्पादकभावाभावात्।

अर्थ—जीव अपनी क्रमनियमित पर्यायो द्वारा उत्पन्न हुआ जीव ही है, अजीव नही है। इसी तरह अजीव भी क्रमनियमित पर्यायों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नही है। क्योकि समस्त द्रव्यो का अपनी पर्यायो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। जैसे ककण आदि पर्यायो के साथ सोने का तादात्म्य सबध है। इस प्रकार अपनी (चैतन्य) पर्यायो से उत्पन्न होते हुए जीव का अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नही होता। क्योकि समस्त द्रव्यो का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव नही है।

यहा पर आये हुए 'क्रम और नियमित' शब्दो को देखकर क्रमबद्ध पर्याय-एकान्तवादी मित्रो को अपने सिद्धान्त की पुष्टि का भ्रम हुआ है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपनी इन गाथाओ मे उपादान कारण की मुख्यता से यह भाव प्रगट किया है कि जीव का और कर्म नोकर्मरूप जड पुद्गल द्रव्य का बन्ध होते हुए भी जीव की पर्याय नियम से चैतन्यरूप ही होती है और जड पुद्गल की पर्याय नियम से जडरूप ही होती है।

इसी अभिप्राय को श्री अमृतचन्द्र सूरि ने सस्कृत गद्य द्वारा कुछ विस्तार मे स्पष्ट किया है।

उसमे 'क्रम' शब्द द्वारा उन्होने 'एक समय मे एक ही पर्याय' का होना प्रकट करते हुए अनेक पर्यायो का एक समय मे होना असभव व्यक्त किया है। और 'नियमित' शब्द द्वारा 'जीव की चैतन्य रूप' और 'अजीव की जडरूप' पर्यायों का निश्चित रूप से होना प्रगट किया है। जिसका कि स्पष्टीकरण उन्होने आगे की पक्तियो मे कर दिया है। कि जीव की पर्याय चैतन्यरूप ही होती है, जडरूप नही होती और अजीव की पर्याय जडरूप ही होती है, चैतन्यरूप नही होती। क्रमबद्ध पर्याय का एकान्त सिद्धान्त न तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य की ऊपर लिखी

दोनो गाथाओ मे कही है और न उन्होने अपने अन्य किसी ग्रन्थ में कही पर इस एकान्त सिद्धान्त का विधान किया है। तथा न अमृतचन्द्र सूरि ने कही किसी भी ग्रन्थ मे क्रमवद्ध पर्याय के एकान्त सिद्धान्त का उल्लेख किया है। एव क्रमवद्ध पर्याय के एकान्त का यहाँ भी कुछ प्रकरण नही है।

एकान्तवाद को दोनो आचार्यों ने अनेक वार अपने ग्रन्थो मे मिथ्यात्व वतलाया है। अत हमारे वन्धुओ को यह भ्रम अपने हृदय से निकाल देना चाहिए। इस विषय मे वे प०जयचन्द्र जी की भी टीका देखने का कष्ट उठावे।

नियतिवाद

जैनधर्म अनेकान्तवादी है, वह किसी भी एकान्त सिद्धान्त का समर्थन नही करता है। एकान्तवाद को उसने मिथ्यात्व घोषित किया है। तदनुसार नियतिवाद (जिसका दूसरा नाम क्रमवद्धपर्याय है) भी जैन सिद्धान्त ने मिथ्यात्व वतलाया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड ने इस मिथ्यात्व का कथन यो किया है—

जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे, इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ—जो कार्य जव जिसके द्वारा जिस प्रकार जिसके होना होता है वह कार्य उसके तव वैसे उसके द्वारा अवश्य होता है, इस तरह का एकान्त सिद्धान्त नियतिवाद नामक मिथ्यात्व है।

क्रमवद्धपर्याय सिद्धान्त भी हूवहू ऐसा ही है, अत वह भी मिथ्यात्व से वाहर नही रह सकता।

जैनधर्म कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करता है परन्तु इसका भी एकान्त नही करता। वह आत्मा के पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों के क्ष कर देने का भी उपदेश तथा विधान करता है। भवितव्यता, दैव

या नियति पर भरोसा रखकर आत्म-उद्धार की दिशा मे अकर्मण्य (निकम्मा) वनने की वात जैन धर्म लेशमात्र नही कहता।

क्रमवद्ध पर्याय के सिद्वान्त को मान लेने पर कर्म-क्षय करने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है क्योंकि क्रमबद्धपर्याय के अनुसार जव मोक्ष होनी होगी, तव वह हो ही जायगी। उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है।

परन्तु एक तो अकालमरण का सैद्धान्तिक विधान क्रमवद्धपर्याय के सिद्धान्त का खण्डन करता है। दूसरे तत्वार्थ-राजवार्तिक मे 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' सूत्र पर श्री अकलकदेव द्वारा लिखा गया निम्न लिखित भाष्य क्रमवद्धपर्याय को असत्य सिद्ध करता है—

किसी क्रमवद्धपर्याय के पक्षपाती व्यक्ति ने **'भव्यस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते अधिगमसम्यक्त्वाभाव'** वार्तिक द्वारा शका उपस्थित की कि आत्मा को जब निश्चित समय पर मोक्ष मिलनी होगी, तब अवश्य मोक्ष होगी, अत अधिगम सम्यक्त्व (पर उपदेश से होने वाला सम्यग्दर्शन) की चर्चा व्यर्थ है।

इस आशका का समाधान करते हुए श्री अकलकदेव लिखते है—

कालानियमाच्च निर्जराया ।।९।। यतो न भव्याना कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्या सख्येन कालेन सेत्स्यन्ति केचिदसख्यातेन, केचिदनन्तेन। अपरे अनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीति ततश्च न युक्तम् 'भव्यस्य कालेन नि श्रेयसोपपत्ते इति।

अर्थ—कर्मों की निर्जरा होने का कोई निश्चितकाल नही है। कोई भव्य आत्मा सख्यात काल मे मुक्त होगे, कोई असख्यात काल मे मुक्त होगे, कोई अनन्त काल मे मुक्त होगे और कोई अनन्तानन्त काल में भी मुक्त न होगे। इसलिए यह कहना गलत है कि भव्य जीव अपने निश्चित समय पर मुक्त होता है।

यानी—भव्य जीवो की निर्जरापूर्वक मुक्ति होने का समय अनिश्चित है।

इस तरह शास्त्रीय प्रमाणो से क्रमवद्धपर्याय का एकान्त सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है ।

भ्रामक प्रयोग

श्री प० फूलचन्द्र जी ने अपनी पुस्तक मे 'सम्यक् नियतिवाद' नामक एक नवीन वाद का उल्लेख साधारण जनता को भ्रम मे डालने के लिये किया है । नियतिवाद का ठीक लक्षण गोम्मटसार कर्मकाण्ड के अनुसार है । द्रव्यो की सख्या मे कमी वेशी न होना, जगत के क्षेत्र मे हीनता वृद्धि का अभाव, समय प्रर्वतन मे परिर्वतन न होना, भावो की सख्या मे कमी वेशी न होना, नियतिवाद का लक्षण नही है । यह वादरायण सम्वन्ध मिलाकर जन साधारण को भ्रान्त करने की युक्ति है ।

तथाच—आपका कल्पित नियतिवाद भी सर्वथा सत्य नही । उपलवण समुद्र का वन जाना, तीसरे काल मे भरत वाहुवली, भगवान ऋषभनाथ का मुक्त होना, गर्मी, शर्दी, वर्षा के समय मे परिवर्तन होते रहना आदि घटनाएँ उस कल्पित नियतिवाद को भी असत्य सिद्ध करती है ।

विज्ञान से भी विरुद्ध

आजकल के वैज्ञानिक आविष्कार भी क्रमवद्ध पर्याय की मान्यता को आलसी निठल्ले व्यक्तियो का नि सार सिद्धान्त प्रमाणित करते है।

टीन, इलम्युनियम, रैडियम आदि धातुओ की उत्पत्ति, सीमेन्ट, स्टेनलैस स्टील का मिश्रित उत्पादन, प्लास्टिक, सैल्युलाइड का निर्माण, काच के रेशो से वस्त्र-निर्माण, परमाणु द्वारा विजली वनाना विध्वसक वम वनाना, विजली, टेलीफोन, वेतार का तार, रेडियो, टेलिवीजन, कृत्रिमहृदय, प्लास्टिक की हड्डी आदि अगणित पदार्थ ऐसे वन रहे है जिनकी पहले कोई क्रमवद्धपर्याय थी ही नही ।

रूस परमाणुवम की मार से अपने यहाँ की नदियो के प्रवाह की दिशा वदल देने की तैयारी मे है जिससे समस्त यूरोप का शीत वातावरण भारत-सरीखा शीत-उष्ण हो जायगा ।

परमाणु बम के विस्फोटो ने इस वर्ष जलवर्षा को कितना बढाकर विकृत कर दिया, यह बात सबके सामने है।

कृत्रिम गर्भाधान

पशुग्रो की नस्ल सुधारने के लिए आजकल कृत्रिम गर्भाधान की भी पद्धति चल पडी है। जिस देश मे अधिक दूध देने वाली गाये उत्पन्न होती है वहाँ के साडो का वीर्य काँच की ट्यूब (वैज्ञानिक काँच की नली) मे लेकर सैंकडो हजारो मील दूरवर्ती देशो मे भेज देते है। पिचकारी मे उसे गायो के गर्भाशय मे पहुँचा दिया जाता है जिससे वह गाय गर्भवती होकर उसी नस्ल का बछडा-बछडी उत्पन्न करती है।

दिल्ली की पशु प्रदर्शिनी मे ऐसी अनेक भारतीय गायो की बछडी बछडे लाये गये थे जो अमरीका के साडो के (काच की नली मे लाये गय) वीर्य से उत्पन्न हुए थे।

विदेशो मे स्त्रियो पर भी इस तरह के कृत्रिम गर्भाधान के प्रयोग हुए है।

इस तरह यह कृत्रिम गर्भाधान भी अक्रम पर्याय का वैज्ञानिक प्रयोग है।

ग्रन्धों के नेत्र

ग्रब तक अन्धे स्त्री पुरुप जन्म भर अन्धे ही बने रहते थे उनका जीवन उनके लिये तथा उनके परिवार के लिये, समाज और देश के लिये भाररूप पराधीन माना जाता रहा है।

अब वैज्ञानिको ने मृतक स्त्री पुरुपो की आखे निकाल कर उनको अन्धे स्त्री पुरुपो की श्राखो में लगाने की प्रक्रिया का आविष्कार किया है इस तरह अन्धे स्त्री पुरुप अन्य व्यक्तियो की तरह अपनी उन लगाई गई आखो द्वारा देखने लगते हैं।

इसके लिये मरणोन्मुख व्यक्तियो को प्रेरणा करने की पद्धति चल पडी है। कि मरने के पश्चात् वे अपनी आँखो का दान अन्धो की आँखें ठीक करने के लिये कर दें।

वधिर (वहरे) स्त्री पुरुषो के कान ठीक कर देने का भी वैज्ञानिक आविष्कार हुआ हे।

इस तरह वैज्ञानिक आविष्कारो ने अन्धे वहरे पुरुषो की क्रमवद्ध पर्याय को छिन्न भिन्न कर डालने की चुनौती दी हे।

इत्यादि अनेक आध्यात्मिक, शास्त्रीय, लौकिक तथा वैज्ञानिक प्रमाणो से क्रमवद्ध पर्याय का एकान्त सिद्धान्त असत्य सिद्ध होता है।

भौगोलिक क्रम-भङ्ग

प्राकृतिक दुर्घटनाओ—भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतो का विनाशकारी विस्फोट, उनसे लावा निकल वहना, समुद्री भारी तूफान आदि—मे अनेक भौगोलिक परिवर्तन हो जाते है। जैसे १६ वी शताव्दी मे इटली का एक लाख मनुष्यो की जनसख्या वाला पम्पियाई नामक नगर विसूविएस नामक ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोट से प्रचुर मात्रा मे निकली हुई राख से इस तरह दव गया था कि तीन सौ वर्ष तक उसके चिन्ह का भी पता न लगा।

काले समुद्र की तूफानी लहरो ने अपने तटवर्ती एक रूसी नगर को लगभग २०० वर्ष पहले समुद्र मे डुवा दिया था जिससे समुद्र के भीतर र मूच्दे मकान अव भी मिल रहे है

इसके सिवाय आधुनिक अमरीकन इजीनियरो ने भी पनामा नहर वनाकर अतलान्तक तथा प्रशान्त महासागर को और स्वेज नहर द्वारा भूमध्यसागर तथा अरव सागर को मिला दिया है। अमेरिका ने अपने यहा एक कृत्रिम समुद्र वनाया है। भारत सरकार ने भाखडा वाँध से सतलुज नदी का प्रवाह वीच मे ही समाप्त कर दिया है।

इत्यादि अनेक भौगोलिक परिवर्तन क्रमवद्ध पर्याय का जीता जागता खण्डन कर रहे हैं। साराश यह है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण तथा

अन्तरग वहिरग निमित्त कारणो के मिलने पर ही होता है। निमित्त कारण जहा क्रम मे मिलते जाते है वहा पर्याय क्रम से होती है, जहाँ निमित्त कारण अक्रम से मिलते है वहा पर्याय अक्रम मे होती है। अशुद्ध पदार्थो की पर्यायो मे न तो सर्वथा क्रम ही होता है और न सर्वथा अक्रम होता है।

नियतिवाद पर एक अन्य अभिमत

पानीपत निवासी श्री बा० जयभगवान जी वकील एक अच्छे तत्त्ववेत्ता विद्वान् हैं। आपके सुपुत्र श्री ब्र० जिनेन्द्रकुमार जी भी अच्छे विचारशील सिद्धान्तज्ञाता युवक हैं। आपने सोनगढ मे बहुत दिन रहकर श्री कहान जी स्वामी के प्रवचन सुने है। एक प्रकार से आप उनके शिष्य है परन्तु परीक्षा-प्रधानी शिष्य है, अत आप कहान जी स्वामी की सभी मान्यताओ का समर्थन नही करते। **कार्य होने मे निमित्त कारणो की सार्थकता तथा अनिवार्यता और व्यवहार चारित्र की उपयोगिता एव व्यवहार नय मे भी सत्यार्थता"** आदि अनेक विषयो को आगम के अनुकूल ही मानते है, अत अपने प्रवचनो मे उनका युक्तिपूर्वक समर्थन करते है।

परन्तु नियतिवाद के विषय मे अभी तक आपके विचारो मे परिवर्तन नही आया है। इसका कारण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की वे तीन गाथाएँ है, जिनमे मरण से बचने के लिए ससारी देवो की आराधना न करने की प्रेरणा देने वाला उपदेश है तथा पद्मपुराण का वह एक श्लोक है जिसमे राजा दशरथ घर से विरक्त होने मे अपनी देरी का कारण बतला रहा है। इस विषय का पीछे समाधान किया जा चुका है।

यहा पर आपकी मान्यता को उनके प्रवचनो के सग्रहरूप शान्ति पथ प्रदर्शन पुस्तक से उद्धृत करके कुछ प्रकाश डाला जाता है।

नियति और काललब्धि को आप एक ही बात मानकर ६५ वे पृष्ठ के अन्त मे आपने उसे वस्तु का स्वभाव बतलाया है तदनन्तर ६६ वे

पृष्ठ पर आप उसे किसान के प्रश्न-उत्तर रूप दृष्टान्त द्वारा निम्न प्रकार मे घटित करते हैं—

"प्रश्न—(किसान से) बीज (खेत मे बोया हुआ) आज ही क्यो फूटा, आगे पीछे क्यो न फूट गया ?

उत्तर (किसान द्वारा)—क्योकि आज से दो दिन पहले ही पृथ्वी मे डाला गया था और पृथ्वी मे पडने के दो दिन पश्चात् अकुरित होना इसका स्वभाव है।

प्रश्न—दो दिन पहले ही पृथ्वी मे क्यो डाला गया था, तीन दिन पहले क्यो नही ?

उत्तर—दो दिन पहले ही पृथ्वी वाही जाकर तैयार हुई थी, तीसरे दिन तक ठीक ठाक नही हुई थी।

प्रश्न—दो दिन पहले ही यह ठीक ठाक क्यो हुई थी उससे पहले क्यो नही ?

उत्तर—छह दिन पहले ही हल जोतना प्रारम्भ किया था, इतनी पृथ्वी छह दिन मे ही जोती जा सकती थी, इससे कम समय मे नही।

प्रश्न—छह दिन पहले ही हल क्यो जोता इससे पहले क्यो नही ?

उत्तर—उसी दिन चित्त मे जोतने का विकल्प या इच्छा उत्पन्न हुई थी, इससे पहले नही।

प्रश्न—इससे पहले विकल्प चित्त मे उत्पन्न क्यो नही हुआ ?

उत्तर—अब तो उत्तर ने हार मान ली। इससे पहले विकल्प क्यो उत्पन्न न हुआ, इसका मेरे पास कोई उत्तर नही। उसी समय हुआ इतना जानता अवश्य हूँ। उस समय वह स्वत ही जागृत हो गया और उसके आगे क्रमश तदनुरूप कार्य चलने लगा। 'क्यो हुआ' का उत्तर कुछ नही, पर हुआ अवश्य।"

इस प्रकार प्रश्न तथा उत्तर करते हुए किसी कार्य का नियत समय पर होने के लिए यानी-नियतिवाद सिद्ध करने के लिए श्री जिनेन्द्रकुमार जी ने अपने अन्तिम प्रश्न के उत्तर मे स्वय हार मान ली। जब कि उन्हे

हार मानने की आवश्यकता न थी क्योकि जिस समय हल जोतने की इच्छा किसान के मन मे उत्पन्न हुई उसका भी कारण था।

हल चलाने की इच्छा किसान के हृदय मे उपयुक्त ऋतु का समय देख कर ही होती है, अनुपयुक्त समय पर हल चलाने की इच्छा किसान को कभी नही होती। जलसिचन आदि के सुविधाजनक समय पर ही किसान हल चलाकर पृथ्वी को बीज बोने योग्य बनाता है।

खेती के योग्य ऋतु आषाढ, मगसिर आदि मासो मे ही क्यो होती है? इत्यादि प्रश्नो के भी वैज्ञानिक उत्तर मानसून (वर्षाती वायु चलना) आदि है। अत इन प्रश्न उत्तरो मे नियतिवाद सिद्ध नही होता। इन प्रश्न उत्तरो से तो यही बात प्रमाणित होती है कि जब निमित्त कारणकलाप मिलते हैं तब ही उपादान कारण कार्यरूप मे परिणत होता है, उससे आगे पीछे नही। अनुकूल निमित्त कारणो के मिलने का कोई निश्चित समय नही होता, अत कार्य होने का समय भी नियत नही होता।

इसी कारण अन्न का उत्पादन कभी ठीक समय पर, ठीक परिमाण मे वर्षा होने पर अच्छा होता है और कभी अधिक वर्षा होने से या आवश्यकता से कम मात्रा मे वर्षा होने पर अन्न थोडा उत्पन्न होता है और जिस वर्ष कारण-वश वर्षा नही होती, उस वर्ष अन्न भी उत्पन्न नही होता, अकाल पड जाता है।

इसी तरह अन्य कार्यो के होने या न होने की अनियत (अनिश्चित) व्यवस्था है। अन्तरग बहिरग कारणकलाप जब जहाँ पर जैसे मिल जाते है तब वहाँ पर वैसा कार्य हो जाता है।

काललब्धि या भवितव्यता

मनुष्य जब किसी कार्य को करते हुए किसी निमित्त कारण की कमी से सफल नही हो पाता और प्रयत्न करते करते व्याकुल होने लगता है, उस व्याकुलता के समय जब निमित्त कारणो के ठीक मिलते

ही वह कार्य वन जाता है तव वह यह कहकर सन्तोप व्यक्त करता है कि इसकी काललब्धि (सफलता का समय) यही थी।

जव किसी कार्य मे प्रतिकूल अन्तरग वहिरग कारणो से सफलता नही मिलती तव अपने दुर्भाग्य को 'भवितव्यता' (होनहार) का नाम देकर सतोप कर लेता है।

इस तरह जैसे 'नियतिवाद' का साधक 'निदति' नामक कोई पदाथ नही है, उसी तरह काललब्धि और भवितव्यता नामक भी कोई विशेप पदार्थ नही है। शुभ कार्य होने के समय को काललब्धि और अशुभ कार्य होने के समय को प्राय 'भवितव्यता' नाम से पुकारा जाता है।

यदि अशुद्ध द्रव्यो के विविध परिणमनो को अपनी दृष्टि मे रखते हुए श्री ब्रह्मचारी जिनेन्द्रकुमार जी इस विपय पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो जैनसिद्धान्त मे नियतिवाद को जो मिथ्यात्व वतलाया गया है, उस नियतिवाद मे उन्हे सत्यार्थता प्रतीत न होगी। यदि भवितव्यता,काललब्धि, नियति वास्तव मे कुछ वस्तु होते तो द्रव्य तत्त्व पदार्थो मे उनका विधान अवश्य पाया जाता।

स्वभावोऽतर्कगोचरः

नियति, काललब्धि तथा भवितव्यता अनुसार कहे जाने वाले कार्य अपने कारण-कलापो मे हुआ करते है, अत वहाँ पर उन घटनाओ के प्रश्न का उत्तर सकारण दिया जा सकता है।

यहाँ 'वलवान् रावण युद्ध मे क्यो मारा गया ? इस प्रश्न का उत्तर 'नियतिवाद' से नही होता। कारण कलाप से यो होता है 'क्योकि रावण की अकालमृत्यु नारायण पदधारी कोटि शिला उठाने वाले लक्ष्मण के अमोघ वाण से हुई।'

'इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर के दर्शन से सम्यक्त्व क्यो हुआ' इसका उत्तर काललब्धि नही है। इसका उत्तर यह है कि भगवान् महावीर के दर्शन रूप वहिरग निमित्त कारण तथा मिथ्यात्व के हटने रूप अन्तरग निमित्त कारण के सहयोग से गौतम का उपादान सम्यक्त्व

रूप हुआ। इसी तरह भवितव्यता का समाधान भी अन्तरग वहिरग कारणों द्वारा होता है।

हाँ, स्वभाव के लिए किसी कारण की आवश्यकता नही, अत उसमे क्यो, क्या, कैसे आदि प्रश्न नही होते।

अग्नि स्वभाव मे उष्ण होती है, जीव अपने स्वभाव से जानता है, इसमे यह प्रश्न नही होता कि अग्नि क्यो गर्म है, आत्मा क्यो जानता है, जल ठण्डा क्यो होता है। क्योकि स्वभाव अकारण होता है,उसमे प्रश्न या कुतर्क नही की जा सकती। ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

सम्यक्त्व में निमित्त

श्री कहान जी स्वामी कहते हैं कि कार्य केवल उपादान से होता है, णिमित्त कारण कुछ नहीं करता।' परन्तु श्री कुन्द-कुन्द आचार्य सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे अन्तरग तथा वहिरग दोनो प्रकार के निमित्त कारणो का सफल एव आवश्यक निर्देश करते है। देखिये नियमसार की गाथा—

सम्मत्तस्स णिमित्त जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अ तरहेयो भणिदा दसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

अर्थ—सम्यक्त्व के उदय का वाहरी निमित्त कारण जिनागम तथा आगमवेत्ता मुनि आदि हैं और दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय उपशम आदि सम्यक्त्व उत्पत्ति मे अन्तरग कारण वतलाया हे।

यहाँ पर दो वातें स्पष्ट झलक रही है—एक तो निमित्त कारण का उल्लेख दूसरे दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय आदि (अन्तरग निमित्त कारण) होने पर सम्यक्त्व का होना।

श्री कहान जी स्वामी अपने प्रवचन और मान्यता मे दो गलतियाँ करते हैं—१—सम्यक्त्व की अथवा अन्य किसी कार्य की उत्पत्ति मे अन्तरग वहिरग निमित्त को सार्थक नही मानते, दूसरे मिथ्यात्व कर्म के नाश से सम्यक्त्व की उत्पत्ति नही वतलाते। उनकी ये दोनो मान्यताएँ नियमसार की इस ५३वीं गाथा से असत्य सिद्ध होती हैं।

निश्चय व्यवहार

गुणपर्यायात्मक अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु का परिज्ञान प्रमाण और नय के द्वारा हुआ करता है । जो वस्तु के सर्व अशो (गुण-पर्यायो या सामान्य विशेषो) को जानता है, वह प्रमाण है । और जो किसी अभिप्राय या किसी दृष्टिकोण से पदार्थ के एक अश को (सामान्य को या विशेष को, गुण को या पर्याय को) जानता हे, वह नय है।

उस नय के दो भेद है—१ द्रव्यार्थिक, २ पर्यायार्थिक। द्रव्याश को अभेद रूप से ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और भेद रूप से या विशेष रूप से पर्याय अ श का ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिक नय है। आगम भाषा मे जब इन मूल नयो को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय कहते हैं तब अध्यात्मभाषा मे इनका नाम निश्चयनय और व्यवहार नय है। इन मूल दो नयो के शुद्ध अशुद्ध, सद्भूत, असद्भूत, उपचरित अनुपचरित आदि अनेक उत्तर भेद हैं।

यहाँ चर्चा सक्षेप से निश्चय व्यवहार नय की करनी है। तदनुसार इन ही दो नयो पर प्रकाश डाला जाएगा।

निश्चय नय और व्यवहार नय का प्रयोग आध्यात्मिक ग्रन्थो मे अनेक प्रकार से किया गया है, जब तक उन सब प्रकारो को न समझ लिया जावे तब तक अधूरा नय-ज्ञान भ्रम भी खडा कर देता है । दुधारी (जिसकी तेज धार दोनो ओर होती है) तलवार का प्रयोग यदि निपुण व्यक्ति करे, तो वह उससे स्व-रक्षा कर सकता है, यदि अर्द्धशिक्षित मनुष्य दुधारी तलवार का प्रयोग करे, तो वह उससे अपना शरीर भी क्षत विक्षत कर लेता हे। इसी प्रकार नयो का अधकचरा ज्ञान आत्मा का अहित भी कर डालता है। अस्तु ।

पदार्थों का विविध विकल्पो द्वारा विचार करने पर उन दो दो विकल्पो मे से एक विकल्प निश्चय नय का और दूसरा विकल्प व्यवहार नय का विषय ठहरता है। जैसे जीव के मुक्त और ससारी विकल्प मे मुक्त जीव निश्चय नय के विपय है, ससारी जीव व्यवहार नय के विषय मे हैं। द्रव्य पर्याय में द्रव्य निश्चय नय का विपय है पर्याय व्यवहार नय का विपय है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य में उत्पाद व्यय व्यवहार नय अनुसार है, ध्रुवता निश्चय नयानुसार है। गुण पर्याय मे गुण निश्चय नय का विपय है, पर्याय व्यवहार नय का विपय है, । स्वभाव विभाव मे स्वभाव को निश्चयनयानुसार और विभाव को व्यवहार नयानुसार माना जाता है। वद्ध अवद्ध विकल्प मे बद्ध दशा (कर्मबन्ध सहित दशा) व्यवहार नय का विपय है और अवद्ध दशा (कर्म रहित दशा) निश्चय नय का विपय है। भेद अभेद मे भेद व्यवहार नय का विपय है और अभेद भाव निश्चय नय के अनुसार है। शुद्ध अशुद्ध विकल्प मे शुद्धता (रागद्वेप आदि विकार रहित दशा) निश्चय का विपय हे और अशुद्धता (विकृत्त दशा) व्यवहार नय का विपय है। स्वाश्रितता निश्चय नय हे, पराश्रितता व्यवहार नय है। प्रवृत्ति रूप आचरण व्यवहार ह, निवृत्तिरूप निश्चय नय का विषय है। इत्यादि।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य का अभिमत

निश्चय नय तथा व्यवहार नय के विपय मे जिस निष्पक्ष मध्यस्थ भावे से श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने अपना अभिमत अपने ग्रन्थो मे प्रकट किया है उस पर यदि मोटे रूप से भी विचार किया जावे तो दोनो नयो की सत्यता उनकी वाणी से वीसियो जगह स्पष्ट रूप से मिलती हे।

समयसार

जिस समयसार ग्रन्थ द्वारा व्यवहार नय को असत्यार्थ मानने का प्रचार किया जाता है, क्योकि समयसार मे निश्चयनय को मुख्यता देकर आत्मशुद्धि के लिये विशेष रूप से-उल्लेख है। परन्तु उसी समयसार मे

व्यवहार नय की सत्यता का स्पष्ट उल्लेख भी बीसियों स्थलों पर है। यहां संक्षेप में समयसार के कुछ प्रकरणों का उल्लेख कर देना पर्याप्त है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने सबसे प्रथम मंगलाचरण करते हुए "वंदित्तु सव्वसिद्धे" यानी—समस्त सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ, वाक्य द्वारा व्यवहार नय की सत्यता पर मुहर (सील) लगाई है। क्योंकि वन्द्य वन्दक, पूज्य-पूजक भाव व्यवहार नय से है। निश्चय नय से श्रीकुन्द-कुन्द आचार्य सिद्धों के समान हैं तब वे सिद्धों को नमस्कार क्यों करते। और 'वोच्छामि समय पाहुडं' (यानी—मैं समयसार को कहता हूँ।) वाक्य द्वारा समयसार बनाने की प्रतिज्ञा करना भी व्यवहार नय का विषय है। निश्चय नय अनुसार सिद्ध-समान शुद्ध बुद्ध निर्विकार कुन्दकुन्द आचार्य समयसार के रचयिता प्रमाणित नहीं हो सकते।

श्री कहान जी स्वामी ने व्यवहार नय को सर्वथा असत्य मान लेने की धारणा समयसार की जिस गाथा को पढ कर बनाई है, वह निम्न-लिखित है—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

अर्थ—व्यवहार नय को अभूतार्थ तथा शुद्ध नय (निश्चय नय) को भूतार्थ कहा गया है। भूतार्थ (निश्चय) नय का जो आश्रय लेता है वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

इस गाथा की टीका करते हुए श्री अमृत चन्द्र सूरि ने अभूत (द्रव्य दृष्टि से असत्य यानी कर्म-सहित आत्मा) को विषय करने से व्यवहार नय को असत्यार्थ बतलाया है। श्री जयसेन आचार्य ने इस गाथा का दो तरह से अर्थ किया है। तदनुसार वे लिखते हैं—

द्वितीय-व्याख्यानेन पुन व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थश्च देशित. कथित। न केवल व्यवहारो देशित शुद्धनिश्चयनयोऽपि। दु शब्दादय निश्चनयोपीति व्याख्यानेन भूतार्थाभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा, शुद्ध-निश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्।

अर्थ—दूसरे व्याख्यान द्वारा व्यवहार नय दो प्रकार का वतलाया है भूतार्थ (सत्यार्थ) तथा अभूतार्थ (असत्यार्थ)। निश्चय नय भी दो प्रकार है शुद्ध निश्चय तथा अशुद्ध निश्चय नय ऐसे चार नय हैं।

इस तरह श्री जयसेन व्यवहार नय को भूतार्थ(सत्यार्थ) भी कहते हैं।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी व्यवहार नय को अपने-विषय की अपेक्षा से भूतार्थ लिखा है तथा निश्चयनय की अपेक्षा अभूतार्थ वतलाया है। इसके सिवाय श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने भी आत्म-शुद्धि के लिए व्यवहार नय को उपयोगी वतलाया है।

कौन नय कहाँ पर उपयोगी है

निश्चयनय और व्यवहार नय कहाँ कहाँ पर उपयोगी है, इस विषय को श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समय-सार की निम्नलिखित गाथा मे वतलाया है।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदाभावे ॥१२॥

अर्थ—जो समस्त मोह विकार से रहित होकर परम शुद्ध (१२ वें गुणस्थान वाले) वन गये है उनके लिए शुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादक (निश्चय) नय वतलाया है। और जो पूर्ण शुद्ध नही है, अत वारहवे गुणस्थान से नीचे के गुणस्थानवर्ती हैं उनके लिए व्यवहार नय उपयोगी है।

इस युग मे इस भरतक्षेत्र का जन्मा हुआ कोई भी व्यक्ति जव १२ वे गुणस्थान वाला परमशुद्ध नही वन सकता तव उसको श्री कुन्दकुन्द आचार्य की उक्त गाथा के अनुसार व्यवहार नयानुसार व्यवहार चारित्र का आचरण करना परम उपयोगी है जैसा कि स्वय श्री कुन्दकुन्द आचार्य आजीवन महाव्रत गुप्त समिति रूप व्यवहार चारित्र का आचरण करते रहे।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य समयसार मे लिखते हैं—

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
आसवसवरणिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥१३॥

अर्थ—यथार्थ रूप से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष, सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते हैं।

निश्चय नय के अनुसार आत्मा समस्त विकारो से रहित शुद्ध है, पौद्गलिक कर्मों तथा नोकर्म के बन्ध और स्पर्श से रहित है। इस कारण आस्रव बन्ध, सवर निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये सात तत्त्व या पदार्थ निश्चय नय की अपेक्षा हैं ही नही। इन सात तत्त्वो का विधान तो व्यवहार नय की अपेक्षा है। अत इस गाथा द्वारा आचार्य श्री ने व्यवहार नय का कथन किया है। साथ ही यह लिखा है कि इनको भूतार्थ यानी—सत्यार्थ रूप से जानने पर सम्यक्त्व होता है। इस तरह व्यवहार नय के विषयभूत सात तत्त्वो को भूतार्थ (यथार्थ) जानने की प्रेरणा समय-सार स्पष्ट रूप से कर रहा है।

गाथाका अर्थ स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र सूरि ने अपनी सस्कृतटीका मे व्यवहार नय के विषय-भूत पदार्थों को भूतार्थ (सत्यार्थ) विस्तार के साथ-स्पष्ट किया है, हम यहाँ उसमे से कुछ वाक्य रखते हैं—

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शन सम्पद्यन्त एव।

अर्थ—भूतार्थ रूप से जाने हुए ये जीव अजीव आदि नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते ही है।

'बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि। अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि।'

अर्थ—वहिरग दृष्टि से ये नौ तत्व जीव पुद्गल के अनादि वन्ध-पर्याय को एकत्व रूप से अनुभव करने पर भूतार्थ है। और एक जीव द्रव्य क स्वभाव को अनुभव करने पर ये तत्व अभूतार्थ है।

इस तरह श्री अमृतचन्द्र सूरि ने व्यवहार नय को अपने विपय की अपेक्षा भूतार्थ तथा निश्चय नय की अपेक्षा अभूतार्थ स्पष्ट रूप से बतलाया है।

कर्त्ताकर्म अधिकार मे श्री कुन्दकुन्द लिखते हैं—

ज भाव सुहमसुह करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
त तस्स होदि कम्म सो तस्स तु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

अर्थ—आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है वह उस भाव का कर्त्ता है और वह भाव उसका कर्म है। आत्मा उस शुभ अशुभ भाव का भोक्ता भी है।

यहाँ ग्रन्थकार ने आत्मा को शुभ, अशुभ राग आदि भावो का कर्ता तथा भोक्ता माना है। मुमुक्षु मित्र विचार करे कि कुन्दकुन्द स्वामी का यह कथन किस नय का विपय है और वह यथार्थ सत्य है या असत्य ?

जो कुणदि वच्छलत्त तिण्ह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो, सम्मादिट्ठी मुणेयन्वो ॥२३॥

अर्थ—जो मोक्षमार्ग मे साधक आचार्य उपाध्याय साधु को, या रत्नत्रय को वात्सल्य (प्रेम) करता है, वह वात्सल्यभाव सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए। विचार कीजिए कि यह कथन व्यवहार नय अनुसार होने से सत्यार्थ है या असत्यार्थ ? वात्सल्य मोह की पर्याय है।

आत्मा का स्वरूप श्रीकुन्दकुन्द आचार्यने समयसार मे निम्नलिखित गाथा द्वारा व्यवहार तथा निश्चय दोनो नयो से अतिक्रान्त (रहित) वतलाया है—

कम्म वद्धमवद्ध जीवे एव तु जाण णयपक्ख।
पक्खातिक्कतो पुण, भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

अर्थ—जीव (व्यवहार नयसे) कर्म से वधा है तथा (निश्चय नयकी अपेक्षा) जीव कर्म से अवद्ध है, ये दोनो वाते व्यवहार एव निश्चयनय के पक्ष से कही जाती है। परन्तु जो इन नयो के पक्ष से दूर आत्मा का निर्विकल्प रूप है वह समयसार यानी—शुद्धचिदानन्दस्वरूप आत्मा है।

इस गाथा द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने विभिन्न पक्षो का आग्रह पकडने के कारण वास्तविक आत्मा का स्वरूप वतलाने मे व्यवहार नय के समान निश्चय नय को भी अनुपयोगी वतलाया है। तदनुसार जो मुमुक्षु निश्चय नय का एकान्त पक्ष लेते है वे श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मतानुसार गलत है।

केवल निश्चय नय का पक्ष लेना क्या हानि पहुँचाता है, इसको भी समयसार मे देखिये—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्टिदाभावे ॥१२॥

अर्थ—(शुक्लध्यान द्वारा) आत्मा का परमशुद्ध भाव अनुभव करने वालो के लिए निश्चय नय वतलाया गया है और जो अभी उस परम-शुद्ध अवस्था को नही पहुँचे, परमशुद्ध दशा से नीची दशा मे हैं उनके लिये व्यवहार नय वतलाई गई है।

इस गाथा की टीका मे श्री अमृतचन्द सूरि तथा श्री जयसेन आचार्य ने स्पष्ट किया है कि जो पुरुप अन्तिम पाक से पूर्ण शुद्ध हुए सोने के समान पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं, यानी—आत्मध्यान के समय सातवें गुणस्थान मे पहुचकर शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव कर रहे है ऐसे परम योगियो के लिये निश्चयनय प्रयोजनवान है और जो सराग चारित्रधारक चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक के गृहस्थ तथा मुनि है उनके लिये व्यवहार नय उपयोगी है।

इसी वात को पुष्ट करने के लिए श्री अमृतचन्द्र ने अपनी टीका मे उक्त च रूप से निम्नलिखित गाथा दी है—

जइ जिणमय पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च ॥

अर्थ—यदि तुम जैन धर्म मे प्रवृत्त होना चाहते हो नो व्यवहार और निश्चय दोनो नयो को मत छोडो । यानी—दोनो का उपयोग करो क्योकि व्यवहार नय के बिना तीर्थ (आत्मा को ससार से पार करने वाला धर्म) नष्ट-भ्रष्ट होता है और निश्चय नय के बिना तीर्थ का फल यानी—मुक्ति प्राप्त नही होती ।

इस गाथा द्वारा आचार्य ने व्यवहार नय को सावन और निश्चय नय को साध्य बतलाया है कि व्यवहार नय का आलम्बन लिये बिना निश्चय आत्मधर्म प्राप्त नही होता ।

इसी भावना को और अधिक पुष्ट करते हुए श्री अमृतचन्द सूरि ने कलश स्वरूप चौथा श्लोक लिखा है—

उभयनयविरोधध्वमिनि स्यात्पदाके,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वय वान्तमोहा ।
मपदि समयसार ते पर ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

अर्थ—जो पुरुप व्यवहार तथा निश्चयनय के पारस्परिक विरोध को दूर करने वाले स्याद्वाद चिन्हित जिनवाणी मे रुचि रखते है यानी—किसी एक ही नय के पक्षपाती नही बनते, उनका मिथ्यात्व दूर हो जाता है और वे ही यथाशीघ्र अपने परम शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा का अवलोकन करते हैं ।

यदि व्यवहार नय सर्वथा असत्य हो तो

यदि व्यवहार नय को असत्य ही माना जावे तो सब कुछ असत्य हो जाता है, विचार कीजिए—

पर्याय होने के कारण आत्मा की सिद्ध अवस्था व्यवहार नयका विपय है, अत सिद्ध परमेष्ठी असत्य माने जायेगे । चार अघाती

कर्म सहित होने के कारण आत्मा की अर्हन्त दशा भी व्यवहार नय से है, अत अर्हन्त भगवान् को सत्यार्थ नही माना जा सकता। आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी अष्टकर्मधारी होने मे व्यवहार नयके विपय है, अत उन्हे भी असत्यार्थ मानना चाहिए।

भगवान् महावीर की वाणी व्यवहार नय की अपेक्षा है अत उसे सत्यार्थ कहना गलत होगा, क्योंकि आत्मा उपदेश देता नही है। तथा च श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वय कर्म-सहित होने से असत्यार्थ रूप व्यवहार नय के विपय है, समयसार आदि गन्थ उनके हाथो ने लिखे तथा वे ग्रन्थ जड पर्याय ह, व्यवहार नय से कुन्दकुन्द-रचित माने जाते है, अत. वे भी सत्य नही माने जा सकते।

श्री कहान जी स्वय अष्टकर्ममय आत्मा की अशुद्ध पर्यायात्मक है, उनका प्रवचन जड पौद्गलिक वर्गणारूप है जो कि उनके आत्मा से प्रकट नही होता अत स्वय उनको तथा उनके प्रवचन को व्यवहार नयका विपय होने से सत्य नही माना जा सकता। ऐसी ही वात श्री प० फूलचन्द जी की जैनतत्वमीमासा पुस्तक के विषय मे है।

इस तरह सभी वाते व्यवहार नयाश्रित होने से अभूतार्थ हैं, अत उनको असत्य ही मानना पडेगा।

आत्मा की अर्हन्त पर्याय और सिद्ध पर्याय भी व्यवहार नयानुसार है, त्रिलोक-त्रिकालवर्ती पदार्थों का ज्ञाता सर्वज्ञ भी व्यवहार नय अपेक्षा है, अत व्यवहार नयका विपय यदि सर्वथा असत्यार्थ ही होता है तो अर्हन्त, सिद्ध, सर्वज्ञ भी असत्यार्थ हुए। तव अर्हन्त मर्वज्ञ का उपदेश सत्यार्थ कैसे माना जा सकता हे। इस तरह समस्त सिद्धान्त ही असत्य हो जायगा।

प्रत्येक शुद्ध तथा अशुद्धद्रव्य अगुरुलघु गुणो द्वारा षट्-गुणी हानि वृद्धि रूप अर्थपर्याय और निश्चय काल द्रव्य के निमित्त से व्यजन

पर्याय रूप मे परिणमन किया करता है, प्रतिक्षण द्रव्य और गुणो की पर्यायो का उत्पाद और विनाश हुआ करता है, जो कि व्यवहार नय अनुसार है। यदि इसको असत्यार्थ माना जावे तो द्रव्यो का स्वरूप अस्त-व्यस्त हो जायगा।

हेय और उपादेय

श्री कहान जी स्वामी ने अपने प्रवचन द्वारा एक इस गलत बात का प्रचार करके भ्रम फैला दिया है और प० फूलचन्द्रजी ने उसकी पुष्टि कर दी है कि—

"निश्चय नय उपादेय (गहण करने योग्य) है और व्यवहारनय सर्वथा हेय (त्याग करने योग्य) है।"

श्री कहान जी स्वामी के सामने प्रश्न है कि अभव्य आत्मा तथा दूरातिदूर भव्य आत्मा द्रव्यार्थिक नय का विषय है या नही और वह त्याज्य है या उपादेय ?

व्यवहारनय-अनुसार ससार दशा त्याज्य है, किन्तु मुक्ति दशा या अर्हन्त सिद्ध पर्याय उपादेय है।

निश्चयनय अनुसार प्रत्येक द्रव्य का ध्रौव्य (त्रिकाल मे अविनाशीपन) जिस तरह ग्राह्य है, उसी तरह व्यवहारनय अनुसार प्रत्येक द्रव्य की प्रतिक्षण होने वाली उत्पत्ति विनाश-शील क्षणिक अर्थ-पर्याय तथा व्यञ्जन पर्याय भी उपादेय है, त्याज्य नही है क्योकि उसके बिना द्रव्य रह नही सकता, व्यवहार नय का विषयभूत उत्पाद और व्यय प्रत्येक द्रव्य का अमिट स्वभाव है। श्री कहान जी स्वामी सदा उत्पत्ति विनाशशील इस व्यवहारनय को त्रिकाल मे कभी त्याग नही सकते।

सातवे गुणस्थान तक पहुचाने वाला व्यवहार चारित्र उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है क्योकि उस व्यवहार चारित्र के हुए बिना शुक्ल-

ध्यान त्रिकाल मे नही हो सकता, अत व्यवहार चारित्र तीर्थंकरो ने भी ग्रहण किया।

वितर्क (श्रुत पद) और वीचार (ध्येय अर्थ, व्यञ्जन तथा योगो के सक्रमण, रूप) मय एव वितर्क अवीचार-रूप शुक्लध्यान भी व्यवहारनय का विपय है परन्तु वह प्रत्येक मुमुक्षु के लिये उपादेय (ग्रहण करने योग्य) है क्योकि उसके विना मोहनीय कर्म से तथा अन्य घातिकर्मो से आत्मा को मुक्ति नही होती।

इसी तरह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति एव व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान भी आत्मा की अघातिकर्मों की सत्ता मे रहते है वे भी व्यवहारनय अनुसार है किन्तु व्यवहारनय के विपयभूत वे दोनो शुक्लध्यान भी ग्राह्य है क्योकि उनके द्वारा अघाति कर्मो का क्षय होता है।

असयम सम्यग्दृष्टि रूप व्यवहार दशा मिथ्यात्व की अपेक्षा उपादेय है। सयमासयम भी व्यवहारनय अनुसार है परन्तु असयतसम्यग्दृष्टि के लिए वह असख्यातगुणी निर्जरा करने वाला होने से ग्राह्य है। सयमासयमी के लिए सयमी आचरण व्यवहार चारित्र होता हुआ भी पचमगुणस्थान से असख्यातगुणी निर्जरा वाला होने से ग्राह्य है।

इस तरह चौथे गुणस्थान से आगे के सभी गुणस्थान व्यवहारनय के विषय से हैं परन्तु वे सभी अपने-अपने पूर्व गुणस्थानो की अपेक्षा ग्राह्य हैं। स्वय कहानजी स्वामी अपने आपको चौथा गुणस्थानवाला मानते हैं। वह भी उनके लिए पहले तीन गुणस्थानो की अपेक्षा ग्राह्य है।

छोड़ा नही जाता, छूट जाता है

चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानो के होने पर पहले के (चौथे पाँचवे आदि गुणस्थानो के) चारित्र को छोडा नही जाता किन्तु अगले गुणस्थान के होने पर वह स्वय छूट जाता है। जैसे अगली सीढी पर पैर रखने पर पहली सीढी स्वय छूट जाती है। तदनुसार अणुव्रत धारण

करने पर चौथा गुणस्थान, अन्तरग बहिरग सयम धारण करने पर पाचवा गुणस्थान, आत्मध्यान मे निमग्न होने पर यानी—धर्मध्यान के समय समिति आदि चारित्र और शुक्लध्यान के समय धर्मध्यान या सातवाँ गुणस्थान स्वय छूट जाता है, उसे छोडना नही पडता।

आठवे गुण-स्थान से आगे के गुणस्थान क्रम क्रमसे जैसे-जैसे हो जाते है, वैसे-वैसे पहले के (आठवा, नौवा, दशवा, बाहरवा, तेरहवा गुणस्थान) छोडने नही पडते किन्तु स्वय छूटते जाते है।

इत्यादि आत्मशुद्धि की प्रक्रिया के अनुसार भी व्यवहार नय अपने अपने स्थान पर उपादेय है।

इस कारण व्यवहार नय को सर्वथा त्यागने योग्य मानना सुमेरु पर्वत के समान मोटी गलती है

आठवे आदि आगे के गुणस्थानो का उत्पाद पूर्व गुणस्थानो के व्यय रूप है। अत यहा भी अभाव से भाव रूप होने की स्वाभाविक प्रक्रिया चलती है।

एकान्त पक्ष से हानि

व्यवहार नयका तथा निश्चयनय का एकान्त पक्ष लेने वाले व्यक्ति अपना तथा अन्य जनता का महान अहित करते है, इस बात पर प्रकाश डालते हुऐ पचास्तिकाय की अन्तिम गाथा की टीका मे श्री अमृतचन्द्र सूरि ने बहुत विशद रूप से लिखा है तथा पुष्टि निम्नलिखित दो गाथाओ द्वारा की है—

चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्चयसुद्ध ण जाणंति॥

अर्थ—व्यवहारनय का एकान्त रूप मे आश्रय लेने वाले व्यक्ति केवल बाहरी क्रियाकाण्ड को करते रहते है, अपनी अन्तरग शुद्धि (आत्मशुद्धि का कार्य नही करते। चारित्र के सारभूत निश्चय शुद्ध आत्मा को नही जानते।

यानी—सब समिति गुप्ति आदि चारित्र शुद्ध आत्म-अनुभव के बिना व्यर्थ है। आत्मा के इस बाह्य आचरण से निर्वाण में भी हट नहीं हो सकता। इस लिये केवल व्यवहार नय का पक्ष लेने वाले व्यक्तियों की बाहरी तपस्या व्यर्थ होती है

इसी तरह—

णिच्छयमालंबंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता।
णासंति चरणकरणं बाहिरचरणालसा केई॥

अर्थ—निश्चयनय का एकान्त पक्ष लेने वाले व्यक्ति शुद्ध आत्मस्वरूप के अनुभव से रहित होते हुए व्यवहार चारित्र का आचरण न करके करण (आत्मअनुभव) तथा चरण (आत्मस्वरूप मे स्थिति) दोनो का नाश करते हैं।

सोनगढ के नेता श्री कहान जी स्वामी अपना आत्म-निरीक्षण करें कि वीतराग देव ने निश्चय एकान्त के पक्ष ग्रहण मे जो दूषण बताये हैं, वे उनमे घर कर गये हैं या नही? क्योंकि इस समय आप शुद्ध आत्म-स्वरूप को तो पा नही सकते, इसका कारण यह है कि आप इस भव मे सातवा गुणस्थान भी नही पा सकते। उधर आपने अणुव्रत तथा महाव्रत रूप व्यवहार चारित्र छोड़ ही दिया है, अतः गाथा में लिखे अनुसार आप निश्चय तथा व्यवहार दोनो प्रकार के चारित्र से रहित हैं कि नही? क्या इस तरह आत्म-कल्याण हो सकता है?

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने इसी कारण पुरुषार्थसिद्धिउपाय मे कहा है—

व्यवहारनिश्चयौ य प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थ।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकल शिष्य॥८॥

अर्थ—जो व्यक्ति व्यवहार और निश्चय नय को अच्छी तरह जानकर किसी एक नय का एकान्त पक्ष नही लेता, मध्यस्थ होकर रहता है, वही व्यक्ति वीतराग भगवान की वाणी का पूर्ण फल प्राप्त करता है।

तदनुसार श्री कहान जी स्वामी को तथा मुमुक्षु मित्रो को निश्चय धर्म (सातवे गुणस्थान से आगे प्राप्त होने वाला) पाने का उद्देश्य रखकर

उसके साधन भूत व्यवहार धर्म सयमासयम या सयम का आचरण करना चाहिये। इतना भी न कर सकें तो निश्चय नय का एकान्तपक्षी तो न बनना चाहिये। किसी भी प्रकार के एकान्त नय-पक्षी को जैनसिद्धान्त ने मिथ्यात्वी माना है। अनेकान्त स्याद्वाद ही सम्यक्त्व भाव का सूचक है।

नय की सार्थकता कब

किसी एक दृष्टिकोण से पदार्थ के आंशिक जानने का नाम नय है। इसका अभिप्राय यही है कि यदि आत्मा द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा नित्य है तो वही आत्मा अपनी ही पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है। ऐसी दशा मे आत्मा को (व्यवहार या पर्यायार्थिक नयानुसार) सर्वथा अनित्य मानना जिस तरह गलत है, उसी तरह आत्मा को (निश्चय नय अनुसार) सर्वथा नित्य मान लेना भी गलत है। अपने प्रतिद्वन्द्वी नय की अपेक्षा न रखने वाली नय ही सत्यार्थ मानी गई है, प्रतिद्वन्द्वी नय की अपेक्षा रखने वाली नय मिथ्या होती है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है "निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तुतेऽर्थकृत्।" यानी—अन्य नय की अपेक्षा रखने वाली नय वास्तविक होती है और अन्य नय की अपेक्षा न रखने वाली नय मिथ्या (असत्य) होती है।

इस विषय मे श्री अमृत चन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय ग्रन्थ के अन्त मे दही से मक्खन निकालने वाली ग्वालिन का दृष्टान्त देकर बहुत सुन्दर कहा है—

एकेनाकर्षन्ती श्थलयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

अर्थ—जिस तरह ग्वालिन दही मथकर मक्खन निकालते समय रई (मथानी) के डडे की रस्सी के दोनो किनारो को पकड कर जब रस्सी के

के एक किनारे को दायें हाथ से खीचती है तब बाये हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है और जब बाये हाथ को खीचती है तब दाये हाथ की रस्सी को ढीला कर देती है, दोनो हाथो की रस्सी को एक ही समय नही खीचती। इसी तरह जैन सिद्धान्त नय-प्रयोग करते समय एक नय को मुख्य करता है तो उसी समय अन्य नय को गौण करता है उसकी सत्ता को मिटाता नही है। तब वह एकान्तवादियो से जीतता है।

हम श्री कहान जी स्वामी के समक्ष नम्र निवेदन करते हैं कि वे अपने प्रचार मे (प्रवचन तथा प्रकाशन मे) इसी स्याद्वाद शैली को अपना कर जनता को सन्मार्ग का प्रदर्शन करें अपने भक्त अनुयायी के हृदय मे निश्चय नय के एकान्त का विष-अकुर न उगने दें। व्यवहार नय का विषय कहाँ किसको उपयोगी है, कहा किसको अनुपयोगी है, कहाँ त्याज्य है, कहाँ ग्राह्य है, कहाँ उसे छोडा जा सकता है, कहाँ नही छोडा जा सकता ? इत्यादि बातो का विशद आगम-सम्मत विवेचन वे सबको समझावे।

निश्चय नय का एकान्त न समयसार मे है, न श्री कुन्दकुन्द आचार्य के अन्य किसी ग्रन्थ मे है और न ऐसे एकान्तवाद का समर्थन कही भी श्री अमृतचन्द्र सूरि ने किया है।

चारित्र

मिथ्या श्रद्धा, कुज्ञान और मिथ्या आचरण से कर्म-बन्ध होता है और सत्श्रद्धा (सम्यग्दर्शन),सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र से कर्म-मोचन (कर्मों से छुटकारा) होता हे।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय समयसार मे कहा है—

धम्मादीसद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद ।
चिट्ठा तव हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्यो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व सहित अ ग पूर्व का जानना सम्यग्ज्ञान है और महाव्रत आदि सहित तप करना सम्यक्चारित्र है। ये तीनो व्यवहार मोक्षमार्ग है। यानी- सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र द्वारा मोक्ष प्राप्त होती है।

इसकी आगे की गाथा मे पूर्ण रत्नत्रयधारक आत्मा को कुन्दकुन्दाचार्य ने निश्चय मोक्षमार्ग कहा है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग, (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है) इत्यादि वाक्यो द्वारा जो उमास्वामी आदि आचार्यो ने मोक्षमार्ग का स्वरूप वतलाया है, वह पचास्तिकाय की उक्त १६० वी गाथा के अनुसार ही है।

प्रवचनसार की पहली गाथा मे कुन्दकुन्दाचार्य ने 'चारित्तखलु धम्मो, वाक्य द्वारा सम्यक्चारित्र को 'धर्म' वतलाया है। तदनुसार श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने धर्मरूप अत मोक्ष के साधन-भूत व्यवहार चारित्र के आचरण की प्रेरणा अपने ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर की है। रयणसार मे —

'दाण पूजा मुक्ख सावयधम्मे णा सावया तेण विणा।'

गाथा द्वारा गृहस्थ श्रावक के लिए देव-गुरु-शास्त्र की पूजा करना तथा दान देना मुख्य धर्म वतलाया है। इन दोनो कार्यो के विना श्रावक नही होता, ऐसा जोर देकर कहा है। इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे मुनियो के लिए ध्यान और स्वाध्याय मुख्य धर्म वतलाया है।

हम यहाँ पर आचार्य श्री कुन्द-कुन्द-प्रणीत चारित्र पाहुड से गृहस्थ चारित्र और मुनिचारित्र का सक्षेप से उल्लेख करते है।

दुविह सजमचरण सायार तह अणायार ।
सायार सग्गथे परिग्गहरहिये णिरायार ॥२१॥

अर्थ—सयमाचरण—चारित्र दो प्रकार है, १ सागार, २ अनगार। परिग्रहधारी गृहस्थ का चारित्र सागार और परिग्रह रहित मुनि का चारित्र अनगार है।

दसणवय सामाइय पोसहमचित्त रायभत्ते य ।
बभारभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठदेसविरदो य ॥२२॥

अर्थ—देशविरत (सागार) की ग्यारह श्रेणा (प्रतिमाएँ) हैं १—दर्शन, २—व्रत, ३—सामायिक, ४—प्रोपध, ५—सचित्त त्याग, ६—रात्रिभुक्ति त्याग, ७—ब्रह्मचर्य, ८—आरम्भ त्याग, ९—परिग्रह-त्याग, १०—अनुमति त्याग, और ११—उद्दिष्टत्याग ।

श्रावक की इन ११ प्रतिमाओ का विवेचन रत्नकरण्ड आदि श्रावकाचारो मे किया है ।

पचेव अणुव्वयाइ गुणव्वयाई हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य सजमचरण च सायार ॥२३॥

अर्थ—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, ये १२ व्रत श्रावक का चारित्र है ।

इसके अनुसार तत्वार्थसूत्र मे गृहस्थ का सामान्य चारित्र बतलाया है।

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्खथूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारभपरिमाण ॥२४॥

अर्थ—त्रस जीवो की हिंसाका त्याग अहिंसा अणुव्रत हे, स्थूल झूठ बोलने का त्याग सत्य अणुव्रत है, स्थूल चोरी का त्याग अचौर्य अणुव्रत है, परस्त्रीगमन का त्याग ब्रह्मचर्य अणुव्रत है और परिग्रह आरम्भ का परिमाण करना परिग्रह परिमाण अणुव्रत हे ।

दिसिविदिसामाणपढम अणत्थदडस्स वज्जण विदिय ।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

अर्थ—समस्त दिशाओ मे आने जाने की सीमा करना पहला गुणव्रत है । अनर्थ-दण्डो का त्याग दूसरा गुणव्रत हे और भोग्य उपभोग्य पदार्थो का परिमाण करना तीसरा गुणव्रत हे।

सायाँइय च पढम विदिय च तहेव पोसह भणिय ।
तइय च अतिहिपुज्ज, चउत्थ सल्लेहणा अन्ते ॥२६॥

अर्थ—सामायिक, प्रोपधोपवास, अतिथि सविभाग और अन्तिम समय सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत है ।

पचिंदिय सवरण पचवया पचविंस किरियासु ।
पचसमिदि तियगुत्ति सजमचरण णिरायार ॥२८॥

अर्थ—पाँच इन्द्रियो का विजय, ५ महाव्रत, २५ क्रियाएँ (भावनाएँ) ५ समिति, ३ गुप्ति का आचरण मुनि चारित्र है ।

हिंसाविरइ अहिंमा असच्चविरई अदत्तविरई य ।
तुरिय अवभविरई पचम सगम्मि विरई य ॥२९॥

अर्थ—हिंसा से विरक्त होना अहिंसा महाव्रत है, असत्य का त्याग सत्यमहाव्रत, चोरी का त्याग अचौर्यमहाव्रत, मैथुन का त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह का सर्वथा त्याग अपरिग्रह महाव्रत है ।

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाण ।
तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होई पढमवदं ॥५६॥ नि० सार

अर्थ—संसारी जीवो के कुल, योनि, जीव समास, मार्गणाओ मे जीवो को जानकर उनके घात से विरक्त परिणाम होना अहिंसा महाव्रत है ।

इसी प्रकार सत्य आदि महाव्रतो का तथा ईर्या आदि समितियो का तथा तीन गुप्तियो का स्वरूप वतलाते हुए उनको आचरण करने की प्रेरणा की है ।

वारसविहतवयरण तेरस किरियाओ भावि तिविहेण ।
धरहि मणमत्तदुरय णाणकुसएण मुणिपवर ॥८०॥ भा० पा०

अर्थ—हे मुनिराज ! तुम मन वचन काय से वारह प्रकार के तपो को आचरण करो, तेरह प्रकार की क्रियाओ को पालो तथा मदमत्त मन रूपी हाथी को ज्ञान रूपी अकुश से वश करो ।

इसी प्रकार २२ परिषह सहन करने का, वैयावृत्य, विनय, क्षमा

आदि आचरण करने का उपदेश भी श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने अपने आध्यात्मिक ग्रन्थो मे यथास्थान दिया हे।

यहा इतना ध्यान रखने की आवश्यकता है कि श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने समयसार के वन्ध अधिकार मे जो २४७ से २५८ तक की गाथाओ मे यह भाव प्रगट किया कि "कोई जीव किसी अन्य जीव की हिंसा या मरण से रक्षा नही कर सकता, आयु कर्म के समाप्त होने से मरण और आयुकर्म शेप होने से रक्षा होती है" सो रक्षा करने के या किसी को मारने के अभिमान को छुडाने के अभिप्राय से कहा है। वैसे हिंसा के विपय मे कुन्दकुन्दाचार्य का भी अभिप्राय अन्य आचार्यो के समान हे, जैसा ऊपर (मोक्षपाहुड चारित्र पाहुड की गाथाओ मे) वताया गया है।

वरवयतवेहिं सग्गो मा होउ निरय इयरेहि ।
छायातवट्ठियाण पडिलवाण गुरुभेय ॥२५॥ मो० पा०

अर्थ—व्रत तप करने से स्वर्ग मिलना अच्छा है, असयम द्वारा नरक प्राप्त होना अच्छा नही है। जैसे गर्मी के समय छाया मे ठहरना अच्छा है धूप मे ठहरना अच्छा नही। इस तरह दोनो मे वहुत अन्तर है।

भाव तिविहपयार सुहासुह सुद्धमेव णायव्व ।
असुह अट्टरुद्द सुह धम्म जिणवरिंदेहि ॥७६॥ भा० पा०

अर्थ—आत्मा के भाव तीन प्रकार के होते है, शुभ अशुभ और शुद्ध। आर्तरौद्र परिणाम अशुभ भाव है,धर्मध्यान शुभ भावरूप है,(कषायो का क्षय हो जाने पर मोहरहित भाव शुद्ध होते है) ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा हे।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसगपरिचत्ता ।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाण ॥२५॥ वो०पा०

अर्थ—दया से विशुद्ध—दयामय धर्म, समस्त परिग्रह से रहित प्रव्रज्या—मुनिदीक्षा, तथा वीतराग देव भव्य जीवो को कल्याण करने वाले है।

भ्रामक प्रचार

इस प्रकार प्रधान आध्यात्मिक उपदेष्टा श्री कुन्दकुन्दाचार्य आत्मा को परमशुद्ध बनाने के लिये अपनी शक्ति-अनुसार गृहस्थ-आचार तथा मुनि-आचार रूप चारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा स्पष्ट रूप से अपने ग्रन्थो मे कर रहे है। इस कारण मुमुक्षु मडल भारी भ्रम मे है कि **'आत्मशुद्धि के लिये व्यवहार चारित्र अनुपयोगी है, त्याज्य हे, श्री कुन्द-कुन्द आचार्य उसका निषेध करते हैं। आदि "** यदि कुन्दकुन्द आचार्य व्रत, तप, त्याग, सयम-रूप चारित्र को आत्मशुद्धि के लिये वाधक समझते तो स्वय उस चारित्र का आजीवन आचरण क्यो करते ?

इतनी वात अवश्य हे कि व्रत,तप आचरण के लिये शारीरिक मोह का त्याग करना पडता है, आत्मसाधना मे अडिग वने रहने के लिये नग्न होकर प्राकृतिक वातावरण मे रहने योग्य शरीर को परिषहजयी एव कष्ट-सहिष्णु वनाना पडता है। ऐसा धीर वीर गम्भीर तपस्वी ही आत्म-शुद्धि के साक्षात् कारणभूत शुक्ल-ध्यान को कर सकता है। शारीरिक सुख सुविधा का अभ्यासी तथा इन्द्रियो का दास व्यक्ति सयमी तपस्वी नही वन सकता। ऐसे निर्वल व्यक्ति ही चारित्र को अग्राह्य या त्याज्य कहा करते है।

अत हमारा नम्र निवेदन है कि आत्मशुद्धि के प्रमुख अतिआवश्यक साधन व्यवहार-चारित्र के विषय मे श्री कहान जी स्वामी गलत प्रचार न करे। उन्हे स्वयं वीर मुनिचर्या का आचरण करना चाहिये यदि उतना कठिन आचरण न कर सके तो अपने शक्ति के अनुरूप उसमे सरल निम्नकोटि का चारित्र धारण करें, यदि उतना सरल चारित्र धारण करने की इच्छा नही है, तो उतना भी चारित्र आचरण न करे किन्तु चारित्र के विषय मे अपने प्रवचनो द्वारा साधारण जनता

को भ्रम मे न डाले। श्रद्धा के विषय मे जिस तरह उन्होंने श्री कुन्दकुन्द आचार्य का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उसी तरह ज्ञान और चारित्र के विषय मे भी आपको कुन्दकुन्द आचार्य का अनुकरण करना चाहिए।

मुसलमानी शासन के समय जब निर्ग्रन्थ नग्न मुनिचर्या बादशाहो के कट्टर धार्मिक द्वेष के कारण असभव हो गई थी तब भट्टारक वेष की प्रथा चल पडी थी। परन्तु किसी भी विद्वान भट्टारक ने अपने किसी भी ग्रन्थ मे चारित्र धारण करने का निषेध नही किया। न मुनिचर्या का अन्यथा विधान किया।

इसी तरह श्री कहान जी स्वामी को सम्यक्चारित्र के विषय मे आर्ष-पद्धति अपना कर भ्रामक प्रचार न करना चाहिए। वे यदि पाद-यात्रा (पैदल भ्रमण) को और अपना ले तो वे आठवी प्रतिमा का आचरण सरलता से कर सकते है। इतना अवश्य है कि चारित्र धारण के लिये दुर्द्धर अभिमान कषाय का विजेता अवश्य बनना पडता है और विनीत भावना लाकर उच्चकोटि के चारित्र का सन्मान करना पडता है। परन्तु इतना किये बिना आत्म-शुद्धि भी त्रिकाल मे कोई नही कर सकता।

तीर्थङ्करों के लिये

पूर्व भव मे दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाओ के निमित्त से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध होता है। तीर्थङ्कर प्रकृति समस्त पुण्य प्रकृतियो मे उत्तम है क्योकि विश्व मे महान् धर्म प्रचार तीर्थङ्कर ही किया करते है। भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्र के जो महान् व्यक्ति पहले भव मे तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध कर लेते है वे अपने तीर्थङ्कर भव मे जन्म से मति श्रुत और अवधिज्ञान के धारक होते है, जन साधारण की

अपेक्षा उनका आत्मा अधिक शुद्ध होता है, उसी भव से वे नियम से मुक्ति-गामी होते है। इतनी सब कुछ विशेषता होते हुए भी उन को भी पूर्ण आत्म-शुद्धि प्राप्त करने के लिए चारित्र धारण करना अनिवार्य आवश्यक होता है।

इसी बात को श्री कुन्दकुन्द आचार्य निम्नलिखित गाथाओ द्वारा स्पष्ट कहते हे —

घुवसिद्धी तित्थयरो, चउणाणजुदो करेइ तवयरण।
णाऊण धुव कुज्जा, तवयरण णाणजुत्तोवि ॥६०॥ मो०पा०

अर्थ—तीर्थङ्कर निश्चित रूप से उसी भव से मुक्तिगामी होते हैं, चारज्ञान के धारक होते हैं, फिर भी मुक्त होने के लिये तप करते है, ऐसा जानकर आध्यात्मिक ज्ञानी को भी तपश्चरण अवश्य करना चाहिए। (मुनिदीक्षा लेते ही तीर्थङ्कर को मनपर्यय ज्ञान भी हो जाता है।)

णवि सिज्झइ वत्थधरो, जिणसासण जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो, सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥ सू० पा०

अर्थ—जिन शासन का विधान है कि तीर्थङ्कर ही क्यो न हो जब तक वह वस्त्रधारक (परिग्रही) रहेगा तब तक मुक्त नही हो सकता। मोक्ष-मार्ग नग्न वेश रूप है। शेष सभी (परिग्रहधारी) उन्मार्ग हैं।

जबकि तीर्थङ्कर को भी श्री कुन्दकुन्द आचार्य के विधान अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के लिये वस्त्र आदि समस्त परिग्रह का त्याग करना तथा तपश्चरण करना आवश्यक है। तब अन्य व्यक्तिओ के लिये तो व्यवहार चारित्र का आचरण करना अनिवार्य आवश्यक है ही।

मोक्षपाहुड मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं—

पच महव्वयजुत्तो पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसजुत्तो, झाणज्झयण सदा कुणह ॥३३॥

अर्थ—पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति और रत्नत्रय-सहित साधु सदा ध्यान और अध्ययन (स्वाध्याय) करे।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं सजदो ससत्तीए,
सो पावइ परमप्प झायतो अप्पय सुद्धं ॥४३॥

अर्थ—जो मुनि रत्नत्रय सहित यथाशक्ति तप और सयम करता है, वह शुद्ध आतमा का ध्यान करता हुआ परमात्मा वन जाता है।

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मिय सजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहतो, झाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

अर्थ—जो देव और गुरु का भक्त है, साधर्मी सयमियो से अनुराग करता है, सम्यक्त्वधारी है और आत्मध्यान मे लीन रहता है, वह योगी है।

निरर्थक क्या है

तवरहिय ज णाण, णाणविजुत्तो तवोवि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण, सजुत्तो लहइ णिव्वाण ॥५९॥

अर्थ—तपश्चरण के विना ज्ञान और ज्ञान के विना तप निरर्थक है। इस कारण ज्ञान और तप से सहित मुनि मुक्ति प्राप्त करता है।

फलदायक

णाण चरित्तसुद्ध लिंगग्गहण च दसणविसुद्ध।
सजमसहिदो य तवो, थोओवि महाफलो होइ ॥६॥ शी० पा०

अर्थ—थोडा ज्ञान भी यदि चारित्र से शुद्ध है, मुनिलिंग सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है तथा सयम से सहित तप है, तो वह वहुत फलदायक होता है।

शील का परिवार

जीवदया दम सच्चं अचोरिय वभचेरसतोसे।
सम्मद्दसणणाण तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥शी० पा०

अर्थ–जीवोपर करुणा, पाच इन्द्रियो पर विजय, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, तप, सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान ये सब शील के परिवार है ।

इत्यादि वीसियो गाथाओ द्वारा श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने व्यवहार चारित्र को आचरण करने का विधान और प्रेरणा भी की है । अतः जो सज्जन श्री कुन्दकुन्द आचार्य के श्रद्धालु भक्त है उनको यथाशक्ति व्यवहार-चारित्र का आचरण करना चाहिये, उसका निषेध कदापि न करना चाहिये ।

निश्चय चारित्र का साधन

आत्म-स्वरूप मे स्थिरता होना **निश्चय चारित्र** है ।

निश्चयचारित्र की पर्यायसज्ञा या रूपरेखा बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने **प्रवचनसार** मे लिखा है—

चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

अर्थ—चारित्र(आत्म-स्वरूप मे प्रवृत्ति, आचरण, स्थिरता) ही धर्म है। जो धर्म है वह शम(साम्य या शाम्यभाव)है । मोह(मिथ्यात्व)और क्षोभ(राग द्वेप)से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वह शम है ।

यानी–मोहनीय कर्म का पूर्ण क्षय होकर जो आत्मा का वीतराग परिणाम होता है, वह **निश्चय चारित्र** है ।

यह निश्चय चारित्र यकायक अकस्मात् प्रगट नही होता, किन्तु व्यवहार चारित्र क्रमश जब उन्नत होता जाता है, तब अन्त मे निश्चय चारित्र का प्रादुर्भाव होता है ।

इसका कारण यह है कि निश्चयचारित्र का प्रतिवन्धक कारण मोहनीय कर्म है, वह मोहनीय कर्म गुणस्थान क्रम से व्यवहार चारित्र द्वारा नष्ट होता है । मिथ्यात्व एव अनन्तानुवन्धी कपाय मोहनीय के नाश से चौथे गुणस्थान रूप सम्यक्त्व का उदय होता है, अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से पचम गुणस्थान का सयमासयम

चारित्र होता है। प्रत्यास्यानावरण के क्षयोपशम से छठे सातवें गुणस्थान का सयम(महाव्रतरूप चारित्र) होता है। तदनन्तर सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान से चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियो का क्षय करने के लिये क्षपक श्रेणी का शुक्लध्यानमय चारित्र प्रारम्भ होता है उस समय क्रमश आठवें गुणस्थान मे अपूर्व विशुद्ध परिणामो द्वारा मोहनीय कर्म की प्रकृतियो की शक्ति क्षीण (कम) करता हुआ नौवें गुणस्थान मे जब योगी पहुँचता है तब वहा उसके स्थूल सज्वलन लोभ के सिवाय क्रमश २० प्रकृतियो का क्षय हो जाता है। तदनन्तर दशवें गुणस्थान मे उस अवशिष्ट स्थूल लोभ कषाय की शक्ति और भी क्षीण हो जाती है, वह स्थूललोभ सूक्ष्मलोभ हो जाता है। तत्पश्चात् उस सूक्ष्म लोभ का भी क्षय होकर निश्चय चारित्र (पूर्ण वीतराग भाव) का प्रादुर्भाव होता है।

इस तरह अणुव्रत, महाव्रत समिति गुप्ति रूप व्यवहार चारित्र का उन्नत विकसित रूप निश्चय चारित्र का बीजारोपण करता है, यदि महाव्रती व्यवहार चारित्र न हो तो सातवें गुणस्थान वाला धर्मध्यान नही हो सकता। धर्मध्यान न हो तो पहला शुक्लध्यान नही हो सकता, पहला शुक्लध्यान न हो तो मोहनीय कर्म की २० प्रकृतियो का क्षय नही हो सकता और पूर्ण वीतरागता का उत्पादक दूसरा शुक्लध्यान भी नही हो सकता।

इस तरह व्यवहार चारित्र निश्चय चारित्र का कारण है, अतः प्रत्येक मुमुक्षु भव्य आत्मा को आत्म-सिद्धि के लिये व्यवहार-चारित्र का आचरण करना अनिवार्य होता है।

पूर्व-पर्याय का व्यय ही उत्तर-पर्याय का उत्पाद होता है तदनुसार व्यवहार चारित्र के सर्वोच्च रूप का व्यय होना निश्चय चारित्र का उदय रूप है। इसलिये चाहे तो यो कह लीजिये कि व्यवहार-चारित्र के विलीन होने पर निश्चय-चारित्र होता है। या यो कह लीजिये कि

व्यवहार-चारित्र से निश्चय-चारित्र होता है दोनो बातो की शैली भिन्न-भिन्न है, किन्तु दोनो का अभिप्राय एक ही है।

हिंसा-अहिंसा

समयसार के बन्ध अधिकार की २४७ से २५८ तक की १२ गाथाओ का आश्रय लेकर श्री कहान जी स्वामी हिंसा और अहिंसा की ऐसी गलत व्याख्या करते है जिससे साधारण व्यक्ति भ्रम मे पड सकता है और अहिंसा व्रत को व्यर्थ समझ सकता है। अत इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल देना आवश्यक है।

समयसार ग्रन्थ के बन्ध-अधिकार मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने कर्म-बन्ध के मुख्य कारण 'राग द्वेष, क्रोध, अभिमान, लोभ आदि भावरूप अध्यवसान' बतलाए है। उस प्रसग मे उन्होने राग द्वेष अभिमान आदि भावो को दूर कराने के अभिप्राय से २४७ वी गाथा से सुन्दर विवेचन प्रारम्भ किया है। उस प्रकरण की कुछ गाथाएँ इस प्रकार है —

जो मण्णदि हिंसामि य, हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहि।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

अर्थ—जो मनुष्य ऐसा समझता है कि मैं अन्य जीवो को मारता हूँ या अन्य जीव मुझे मारते है, वह मूर्ख अज्ञानी है। ज्ञानी पुरुष की मान्यता इससे उलटी होती है।

क्योकि —

आउक्खयेण मरण, जीवाण जिणवरेहि पण्णत्त।
आऊ ण हरेसि तुम, कह ते मरण कद तेसि ॥२४८॥
आउक्खयेण मरण, जीवाण जिणवरेहि पण्णत्त।
आऊ ण हरति तुह, कह ते मरण कद तेहि ॥२४९॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् ने आयु कर्म के क्षय हो जाने से मरण होना वतलाया है। जव तू किसी जीव की आयु का हरण नही कर सकता, तव तूने उन जीवो को किस तरह मारा ? इसी तरह जव कोई जीव तेरी आयु को तुझसे छीन नही सकता, तो अन्य कोई जीव तुझे कैसे मार सकता है ?

जो मण्णदि जीवेमि य, जीविज्जामि य परेंहि सत्तेंहि ।
सो मूढो अण्णाणी, णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ—जो ऐसा मानता है कि मैं अन्य जीवो को जिलाता हू। या अन्य प्राणी मुझे जिलाते है, वह मूर्ख अज्ञानी है। इससे विपरीत मानने वाला मनुष्य ज्ञानी है।

इसका कारण यह है कि—

आऊदयेण जीवदि, जीवो एव भणति सव्वण्हू ।
आऊ च ण देसि तुम, कह तए जीविद कद तेंसि ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि, जीवो एव भणति सव्वण्हू ।
आऊ च ण दिंति तुह, कहणु ते जीविद कद तेहि ॥२५२॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् ने वतलाया है कि आयु कर्म के उदय से जीव जीता है और जब आयु कर्म तू किसी को दे नही सकता तव तू उस अन्य जीव को कैसे जिला सकता है ? उसी तरह जव अन्य कोई जीव तुझे आयु नही दे सकते तव अन्य जीव तुझे किस तरह जीवित रख सकते हे ?

समयसार ग्रन्थ शुद्ध आत्म-तत्व को प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देने वाला उच्च कोटि का आध्यात्मिक ग्रन्थ है, उसमे प्रधानता से आत्मा को शुद्ध वनाने की प्रक्रिया वतलाई है, इस कारण से समयसार को आध्यात्मिक उपदेशक ग्रन्थ समझना चाहिए। उसे चरणानुयोग का सिद्धान्त ग्रन्थ मानना उसके महत्व को कम करना है।

उपर्युक्त गाथाओ मे श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने हिंसा या अहिंसा की परिभाषा या लक्षण नहीं लिखा है, यहाँ तो उन्होंने हिंसक तथा रक्षक मनुष्य को कर्म-बन्ध से बचाने के लिए उससे अहंकार-भाव छोड देने की दिशा मे प्रेरणा की है कि "तू व्यर्थ मे क्यो अहङ्कार करता है कि मैंने अमुक जीव को मार दिया या अमुक जीव को मरने से बचाया। अन्य जीव का मरना या जीना उसके आयु कर्म के अधीन है, तेरे अधीन नहीं है। तू व्यर्थ में अपने अभिमान एवं अहङ्कार भाव से कर्म का बन्ध क्यो करता है।"

कर्मबन्ध के कारणभूत अध्यवसानो (विकृत—रागद्वेष आदि परिणामो) से छुडाने के लिए श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने यहाँ व्यवहार-नय के अनुसार कर्म उदय से तथा कर्मक्षय से आत्मा के जीवन, मरण की बात पर प्रकाश डाला है। अत यहा पर निश्चयनय को गौण करके आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, त्रिकाल ध्रुव, अजर, अमर, शुद्ध-बुद्ध नही बतलाया। जो मुमुक्षु सज्जन समयसार को एकान्तरूप से शुद्ध आत्मतत्व का ही प्रतिपादक, केवल निश्चयनय का निवेचन करने वाला ही ग्रन्थ मानते हैं, वे उक्त गाथाओ पर दृष्टिपात करें।

इस व्यावहारिक उपदेश की बात इसी बन्ध-अधिकार की निम्न लिखित गाथाओ द्वारा स्पष्ट हो जाती है—

> अज्झवसिदेण बधो, सत्तो मारेउ मा व मारेउ।
> एसो बन्धसमासो, जीवाण णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अर्थ—किसी जीव को मारो या न मारो (बचाओ) कर्म का बन्ध तो अपने अध्यवसान (परिणाम) से होता है। जीवो के कर्मबन्ध होने का निश्चयनय मे यह सक्षेप कथन है।

यहाँ 'निश्चयनय' शब्द का प्रयोग करके जो आचार्य कुन्दकुन्द ने कर्मबन्ध के सक्षेप कथन का उल्लेख किया है। उस पर निश्चयनय के एकान्तवादी मुमुक्षु मित्र गम्भीरता से विचार करे।

अज्झवसाणणिमित्त जीवा वज्झति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चति मोक्खमग्गे, ठिदा य ता करेसि तुम ॥ २६७ ॥

अर्थ—यदि ससारी जीव अपने अध्यवसान (राग द्वेष आदि विकृत भाव) के निमित्त से कर्मबन्ध करते हैं और मोक्ष मार्ग मे स्थित होकर कर्मों से छूटते हैं तो इस विपय मे तू क्या करता है ?

अपने पूर्वोक्त कथन का उपसहार करते हुए इन दो गाथाओ के द्वारा श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है कि मनुष्य को अपने दुर्भावो पर नियन्त्रण रखना चाहिए जिससे कर्म-बन्ध न हो। कारणवश वह हिंसा कर बैठे तो उसको अभिमान न करना चाहिए 'कि मैंने उसे मार दिया।' यदि वह किसी प्राणी को मरने से बचा ले, तो उसका अहङ्कार न करे कि 'मैंने इसकी प्राणरक्षा की।' और न अपने मन मे किसी के मारने, दुख देने आदि की दुर्भावना करे। क्योकि इन वातो से कर्मों का बन्ध हुआ करता है।

[श्री कहान जी स्वामी तथा प० फूलचन्द जी और प० जगमोहनलाल जी यहाँ इतना और देखने की कृपा करे कि कर्मबन्ध रूप कार्य होने मे श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने अध्यवसान को निमित्त कारण का स्पष्ट उल्लेख करके निमित्त कारण की सार्थकता पर मुहर लगा दी है।]

इस कारण श्री कहान जी स्वामी पूर्वोक्त गाथाओ का आश्रय लेकर हिंसा और अहिंसा की जो एकान्त व्याख्या करते है, वह गलत है। क्योकि निकाचित आयु कर्म वाले प्राणी का प्राणघात आयु कर्म क्षय होने से पहले नही होता परन्तु अन्य जीवो का तो आयुकर्म रहते हुए भी अकाल-मरण अग्नि मे जला देने से, जल मे डुबा देने से तथा तलवार आदि शस्त्र से हो जाता है। प्रत्येक तीर्थङ्कर के समय मे ऐसे दश-दश अन्तकृत केवली अकाल मृत्यु से हुआ करते है। श्री कुन्द-कुन्द आचार्य ने भी भाव पाहुड़ की २५-२६-२७ वी गाथा मे अकाल-मृत्यु का उल्लेख किया ही है।

तथा—नियमसार की ५६ वी गाथा मे उन्होंने छहकाय के जीवो की रक्षा करने को अहिंसा महाव्रत बतलाया है और चारित्र पाहुड की निम्नलिखित गाथा मे अहिंसा महाव्रत की पुष्टि करने वाली भावनाओ का उल्लेख किया है—

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो।
अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥ ३२ ॥

अर्थ—**वचनगुप्ति** (अन्य प्राणी को दुखकारी तथा राग द्वेष उत्पादक आदि असत् वचन न कहना—मौन रहना), **मनगुप्ति** (मन मे हिंसक आदि विचार न लाना—मन को वश मे करना), **ईर्यासमिति** (चींटी, कीडे-मकोडे आदि जीव जन्तुओ की रक्षा के लिए प्रमाद छोड कर भूमिको देख-भाल कर चलना), **आदाननिक्षेपण** (जीवो की रक्षा का ध्यान रखते हुए कमडलु शास्त्र आदि उपकरणो को सावधानी से उठाना रखना) और **अवलोकित भोजन** (देखभाल कर शुद्ध भोजन करना) अहिंसाव्रत की ये ५ भावनाएँ हैं।

पाठक गण स्वय विचार सकते हैं कि जिस तरह अहिंसा महाव्रत का लक्षण करते हुए कुन्दकुन्द आचार्य ने छहकाय के जीवो की रक्षा करने का विधान किया है, उसी तरह की जीव-रक्षा का लक्ष्य इन पाँच भावनाओ मे प्रगट किया है।

अत श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मतानुसार भी **मन वचन काय से समस्त जीवों की रक्षा करना अहिंसा महाव्रत है और मन वचन काय से अन्य जीव के अथवा अपने द्रव्य प्राण भावप्राण का घात करना हिंसा है।'**

जैन सिद्धान्त मे अहिंसा को महान् धर्म और हिंसा को महान् पाप माना गया है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह उसी अहिंसा धर्म की शाखा है तथा असत्यभाषण, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह उस हिंसा पाप की शाखा हैं। पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय मे इस हिंसा, अहिंसा का अच्छा स्पष्टीकरण श्री अमृतचन्द्र सूरि ने किया है। श्री अमृत-

चन्द्र सूरि श्री कुन्दकुन्द आचार्य के ग्रन्थो के प्रामाणिक सस्कृत व्याख्याकार हुए है, अत उनके द्वारा किया गया हिसा तथा अहिसा का विवेचन श्री कुन्दकुन्द आचार्य के मत-अनुसार ही है।

जब श्री कहान जी स्वामी आचार्य कुन्दकुन्द और श्री अमृतचन्द्र सूरि को प्रामाणिक गुरु मानते है, उनके श्रद्धालु भक्त है, तब उन को हिसा अहिसा की व्यास्या भी उनके मत-अनुसार ही करनी चाहिए।

यदि आयुकर्म के अनुसार ही जीवन मरण निश्चित हो, जिसे (आयु कर्म के रहने न रहने को) कि अल्पज्ञानी साधारणजन जानता भी नही, तब तो द्रव्यहिसा कोई बात ही नही रहती, उस दशा मे न तो हत्यारे को सरकारी दड मिलना चाहिए, न उसे कर्म-दड मिलना चाहिए। फिर हिसक जीव नरक आदि मे क्यो जावे ? द्रव्यहिसा प्राय भाव-हिसा-पूर्वक ही होती है। इस कारण द्रव्य-हिसा (अपने आपको तथा अन्य जीव को जान से मार देना या घायल करना अथवा दुर्वचनो से दुखी करना) भाव-हिसा के साथ ही होती है। उस द्रव्यहिसा से बचना प्राय भावहिसा से बचना है। भगवान् महावीर ने पशु-हवन वाले हिसा कार्य को रोकने के लिए ही अहिसा का प्रचार किया था। यदि हिसा आयुकर्म के अनुसार ही होती तो भगवान् महावीर को अपने उपदेशो द्वारा अहिसा का प्रचार करने की क्या आवश्यकता थी।

आशा है श्री कहान जी स्वामी अपनी इस भारी गलती का सुधार करेगे।

शुभ उपयोग तथा पुण्य

आत्मा का उपयोग या परिणति तीन प्रकार की होती है—१ अशुभ २-शुभ, और ३-शुद्ध। मिथ्यात्वमयी तथा विषय-कषायो के पोषण रूप हिसा,असत्य, चोरी, व्यभिचार, अनीति से धन-सचय आदि पाप कार्य अशुभ परिणति है। मिथ्यादृष्टि के दया, दान, अचौर्य,

सत्यपरायणता, ब्रह्मचर्य, न्याय आदि सदाचार को तथा सम्यग्दृष्टि के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, अपरिग्रह (स्वल्प परिग्रह या परिग्रह के अभाव), मन्द कषाय, धार्मिक अनुराग आदि प्रवृत्ति को शुभ परिणति माना गया है। मोहनीय कर्म द्वारा होने वाले राग द्वेष आदि भावो के अभाव मे होने वाली निर्विकार वीतराग परिणति को शुद्ध उपयोग या शुद्ध परिणति बतलाया गया है।

अशुभ परिणति से अशुभ कर्मों का आस्रव तथा बन्ध होता है। शुभ परिणति से शुभ या पुण्य कर्मों का बन्ध तथा अशुभ कर्मो का सवर और निर्जरा होती है । शुद्ध परिणति मे अशुभ कर्मों का आस्रव एव बन्ध तो सर्वथा नही होता किन्तु कुछ शुभ कर्मो का आस्रव होता है परन्तु उनका स्थिति अनुभाग रूप बन्ध नही हो पाता, अत आने वाले कर्म की निर्जरा भी तत्काल होती जाती है।

गुणस्थानो के अनुसार पहले तीन गुणस्थान अशुभ परिणति रूप (तीसरा गुणस्थान शुभाशुभ-मिश्रित रूप) होते है। चौथे गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक शुभ परिणति या शुभ उपयोग होता है तथा ग्यारहवे वारहवें, तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे मोहनीय कर्म के अभाव से शुद्ध परिणति होती है। शुक्लध्यान की अपेक्षा मोहनीय कर्म के उदय होने पर भी आठवे, नौवें, दशवे गुणस्थान मे भी शुद्ध परिणति मानी गई है।

तदनुसार भव्य धार्मिक व्यक्ति के लिए अशुभ उपयोग या अशुभ परिणति त्याज्य है और शुभ तथा शुद्ध परिणति उपादेय या ग्राह्य है।

सयमरहित सम्यग्दृष्टि के तथा देश-सयमी गृहस्थ के एव महाव्रती मुनि के अपने शुभ परिणामो से पुण्य-बन्ध हुआ करता है किन्तु उन शुभ रागमय परिणामो के साथ जो सम्यक्त्व, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी रहता है उससे मिथ्यात्व अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, कुगति, अशुभ आयु आदि कर्मों का सवर तथा निर्जरा भी होती रहती

है। अत पुण्य-बन्ध एव सवर निर्जरा होते रहने के कारण पांचवें गुण-स्थान से दशवें गुणस्थान तक के चारित्र को सराग चारित्र भी कहते हैं।

पूजा और दान

पूर्वोक्त परिस्थिति मे सम्यग्दृष्टि मनुष्य यदि वीतराग देव के गुणों से आकर्षित होकर अर्हन्त भगवान के सामने हर्ष-विभोर हो कर नृत्य करता है, मधुर स्वर से उनका गुणकीर्तन करता है, विनय के साथ नमस्कार करता है एव पूजा करता है, तो उस धार्मिक अनुराग के कारण जहाँ उसके पुण्य-कर्मों का बन्ध होता है वही उसके सरागी देव की आराधना की विरक्ति-मयी सम्यक् श्रद्धा के कारण मिथ्यात्व, नरकगति, नरक आयु, नपु सकलिंग आदि अशुभ कर्मों का सवर और निर्जरा भी होती है।

इस कारण देव पूजा, गुरुभक्ति, शास्त्र-भक्ति, धार्मिक व्यक्ति के लिये पुण्यबन्ध एव सवर निर्जरा की दृष्टि से ग्राह्य (उपादेय) है, त्याज्य नही है। श्री कहान जी स्वामी की प्रेरणा से मन्दिरो का निर्माण भी इसी आध्यात्मिक लाभ के लिए कराया जाता है।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने धन के विषय मे पुरुपार्थसिद्धि-उपाय ग्रन्थ मे कहा है—

अर्था नाम य एते, प्राणा एते वहिश्चरा पु साम्।
हरति स तस्य प्राणान्, यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

अर्थ—सोना चाँदी, मकान आदि धन मनुष्यो का वाहरी प्राण होता है। इस कारण जो मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति के धन का अपहरण करता है (चुराता है, या छीनता है अथवा नष्ट करता है) वह मनुष्य उस धनी के प्राणो का अपहरण करता है।

साराश यह है कि गृहस्थ का जीवन-निर्वाह अपने सचित धन के सहारे से होता है, वह धार्मिक कार्य भी धन के सहारे ही करता

है, इस कारण गृहस्थ को धन के साथ बहुत भारी मोह-ममता होती है। इसी लिए धन नष्ट हो जाने पर उसके शोक मे अनेक मनुष्य पागल हो जाते हैं और अनेक मनुष्य मर भी जाते हैं। जमीन्दारी छिन जाने के शोक मे पागल हुए नौ जमीन्दार इस समय आगरे के पागलखाने मे पड़े हैं।

दान करते समय सम्यग्दृष्टि के हृदय मे किसी धार्मिक कार्य करने (मन्दिर बनाने, स्वाध्यायशाला, विद्यालय खोलने, पात्रदान करने, अनाथ, विधवा, दुखी के उपकार करने, पूजा प्रतिष्ठा करने आदि) का जो अनुराग होता है, उपकारक भावना होती है, उस शुभ-अनुराग के कारण पुण्य कर्म (स्वर्ग, भोग भूमि, धनिक, सुखी, स्वस्थ, यशस्वी बनाने वाले कर्म) का बन्धन होता है। उसी के साथ दान किये गये द्रव्य, धन से मोह ममता त्याग देने रूप विरक्त परिणामो से अशुभ कर्मों का सवर और निर्जरा भी होती है।

इस लिए सवर निर्जरा एवं पुण्य कर्म-बन्ध करने वाला दान भी प्रत्येक गृहस्थ के लिए ग्राह्य (उपादेय) है, त्याज्य नहीं है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य की प्रेरणा

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने रयणसार ग्रन्थ की ११ वी गाथा मे प्रेरणा की है—

दाण पूजा मुक्खं, सावयधम्मे ण सावया तेण विणा।

यानी—सम्यक दृष्टि गृहस्थ के श्रावक-धर्म मे पूजा करना तथा दान करना मुख्य है। दान और पूजा के बिना वह गृहस्थ श्रावक नहीं हो सकता।

अत आचार्य कुन्दकुन्द के उपदेश पर श्रद्धा रख कर एव कर्म-सिद्धान्तानुसार सवर निर्जरा का भी कारण जान कर श्री कहान जी स्वामी को दान पूजा को त्याज्य बताने का प्रचार न करना चाहिए।

दान और पूजा को केवल पुण्य कर्म-बन्ध का कारण बतला कर

उन दोनो धर्म कार्यो का निषेध करना, उनको त्याज्य बतलाना पर्वत के समान मोटी गलती है। ऐसा गलत प्रचार बहुत अनुचित है। सर्व परिग्रहत्यागी मुनि भी सदा समस्त चर-अचर षट्-कायिक प्राणियों को अभय दान करते हैं तथा सज्ञी प्राणियो (मनुष्यो तथा आवश्यकतानुसार पशुओ को भी) ज्ञान-दान करते हैं।

सराग चारित्र

सम्यग्दर्शन हो जाने पर आत्म-अनुभव होने लगता है, जिससे सम्यग्दृष्टि की दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है, उसे विषय-भोगो की अपेक्षा आत्मानुभूति मे अच्छा आनन्द और शान्ति मिलती है। परन्तु चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से उसका चित्त सासारिक विषय-भोगो से विरत नही हो पाता, अत अनुभूति अस्थिर बनी रहती है। सासारिक विषय-भोगो को नि सार समझता हुआ भी वह उनको छोड नही पाता। अतएव उसके कषायभाव भी उग्र रहे आते है।

इसी कारण भगवती आराधना ग्रन्थ की सातवी गाथा मे 'होदि हु हत्थिण्हाण' वाक्याश द्वारा अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) की धर्मसाधन क्रिया को हाथी के स्नान के समान महागुणकारी नही बताया।

यदि सम्यग्दृष्टि जीव अप्रत्याख्यानावरण के क्षयोपशम से देश-सयमी बनता है तो सात कुव्यसनो का, अभक्ष्य-भक्षण का, स्थूल रूप से पाच पापो का त्याग कर देता है जिससे वह अपनी इन्द्रियो की विषय-लालसा को सीमित कर लेता है, अहिसक भावो मे वृद्धि करता है, तथा सामायिक आदि व्रतो के आचरण से अपने विरक्त परिणामो मे वृद्धि करता है। इस तरह अपनी त्यागमयी विरक्त चारित्र-परिणति से वह चौथे गुणास्थान की अपेक्षा कर्मों का सवर और निर्जरा असख्यात गुणी करने लगता है। इस लिए वह गृहस्थ अपने उस

सयमासयम रूप सराग चारित्र के राग-अश से जहाँ पुण्य कर्मों का बन्ध करता है वहीं अपने चारित्र अंश से सवर, निर्जरा भी करता है।

जब कोई व्यक्ति प्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से महाव्रती मुनिचर्या का आचरण करता है तब वह घर परिवार तथा शरीर के भी वस्त्र आदि परिग्रह से विरक्त हो कर निर्ग्रन्थ मुनि वनता है। अपने निर्विकार शरीर द्वारा अपने अखड ब्रह्मचर्य की परीक्षा समस्त जगत को देता है तथा शीत ताप आदि परिषहो को शान्त-भाव से सहन करता हुआ अपने शारीरिक-मोह के परित्याग का परिचय देता है। मुनिचर्या के मूलगुण उसकी अभ्यन्तर तथा वहिरग निर्मलता की साक्षी देते हैं।

उस समय उस मुनिवर के महाव्रती-चारित्र के प्रभाव से पचम गुणस्थान की अपेक्षा असख्यातगुणी कर्म-निर्जरा और सवर होता है तथा अल्प राग-अंश के कारण पहले की अपेक्षा थोडा शुभ कर्म-बन्ध भी होता है।

वही महाव्रती मुनि जब आत्म-ध्यान मे निमग्न होकर सातवें आठवे नौवे दसवें गुणस्थान मे पहुँचता है, तब पहले पहले गुणस्थान की अपेक्षा स्वल्प राग-अश के कारण क्रमश घटता हुआ पुण्यवध भी करता है और अपने बढते हुए विरक्त चारित्र द्वारा असख्यात-गुणी कर्म-निर्जरा एव सवर भी करता है।

दशवे गुणस्थान तक उसके सराग-चारित्र होता है, तदनन्तर (उपशामक मुनि) ग्यारवें गुणस्थान मे अस्थायी वीतरागता तथा क्षपक मुनि वारहवें गुणस्थान मे पहुँचने पर स्थायी वीतरागता प्राप्त कर लेता है।

दशवे गुणस्थान के पश्चात् सराग चारित्र स्वय छूट जाता है, उसे छोडने की आवश्यकता नहीं होती, या यो कह लीजिये कि सराग चारित्र स्वय वीतराग चारित्र बन जाता है।

इस सैद्धान्तिक, आध्यात्मिक, गुणस्थानीय परिस्थितियों में कौन विचारशील व्यक्ति **व्यवहार-चारित्र** अपरनाम **सराग-चारित्र** को त्याज्य कह सकता है ? जिस चारित्र के द्वारा उत्तरोत्तर कर्मभार हलका होता जावे, आत्म-शुद्धि बढती जावे, उस चारित्र को त्याज्य बताना सुमेरु पर्वत से भी अधिक मोटी भूल है।

गुणस्थानो का तथा चरणानुयोग, करणानुयोग एव द्रव्यानुयोग का जानकार व्यक्ति जानता है कि **निश्चय-चारित्र** जिसका नाम पूर्ण-वीतराग है, जो कि १२ वें गुण-स्थान मे योगी को प्राप्त होता है, वह **निश्चय-चारित्र** (निश्चय आत्म-धर्म) दशवें गुणस्थान तक के व्यवहार चारित्र या सराग-चारित्र के विना महान से महान व्यक्ति (तीर्थङ्कर) को भी प्राप्त नही हो सकता।

ऐसी आध्यात्मिक परिस्थिति मे सराग-सयम को पुण्यबन्ध का ही कारण बताकर उसको त्याज्य बतलाने की घोषणा करना हानिकारक गलत प्रचार है।

अत, नियम-आखडी, उपवास, एकाशन, सामायिक, स्वाध्याय आदि इन्द्रिय-दमन तथा कषाय-शमन से होते है, अत. वे आत्म-शुद्धि के कारण है। यदि कोई शुभ आचरण न किया जावे, तो अशुभ उपयोग होगा, जिससे कि पाप-बन्ध होगा, उससे आत्मा का पतन होता है। इस युग मे किसी भी व्यक्ति के शुद्ध उपयोग हो ही नही सकता।

साराश यह है कि सम्यग्दृष्टि का शुभ उपयोग आत्मशुद्धि का कारण है, अत वह उसके लिये ग्राह्य है।

जीव-दया

दुखी, दीन, हीन, अनाथ असहाय, पीडित, भूखे प्यासे, रोग-ग्रस्त जीवों पर दया करना सम्यग्दृष्टि जीव का बाहरी चिन्ह है। प्रशम, सवेग,

अनुकम्पा (दया) और आस्तिक्य भाव सम्यग्दृष्टि के अवश्य होते है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने शीलपाहुड की १९ वी गाथा मे जीव-दया को शील के परिवार मे गर्भित किया है। बोध-पाहुड-की २५वी गाथा मे उन्होने भव्यजीवो के कल्याण करने वाला धर्म दयामय(धम्मो दया-विसुद्धो) बतलाया है। दया अहिंसा की जननी है।

यह दयाभाव भी शुभ-अनुराग-अश के कारण जहाँ पुण्य-बन्ध का कारण है, वही वह हिंसा,निर्दयता, दुष्टता की विरक्ति रूप चारित्र-अश के कारण कर्म-सवर तथा कर्म-निर्जरा का भी कारण है।

अत अहिंसा-अणुव्रत तथा अहिंसा-महाव्रत की उत्पादक दया आधुनिक युग मे उपादेय, आचरणीय व्यवहार चारित्र है।

तेरापथी स्थानकवासी दिवङ्गत आचार्य श्री कालूराम जी के समय तक तेरापथी सम्प्रदाय मे जीवदया को व्यावहारिक कार्य मान कर धर्म नही माना जाता था। परन्तु उस सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य श्री तुलसी जी ने जो अणुव्रत आन्दोलन चलाया है उसमे उन्होने अहिंसा अणुव्रत के रूप मे गृहस्थो को जीव-दया करने की प्रेरणा प्रदान की है अण्डा, मास-भक्षण के त्याग करने की प्रेरणा भी वे इसी अहिंसा एव जीव-दया को आचरणीय धर्म मानकर ही कर रहे है।

इस युग का शिक्षित युवक मदिरापान, अण्डा-भक्षण तथा मासभक्षण की ओर अग्रसर हो रहा है। स्कूल कालेजो मे पढने वाले जैन युवक भी जैनेतर सहपाठियो की सगति से अभक्ष्यभक्षण की ओर झुक रहे है, देवदर्शन, गुरुभक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय आदि जैन सस्कृति से विरत होते जा रहे है। ऐसे समय मे जैन-धर्म और जैन-सस्कृति को सुरक्षित रखने के लिये जैन समाज के युवको मे व्यवहार धर्म के प्रचार की बडी भारी आवश्यकता है। इस आवश्यक बात की ओर श्री कहान जी स्वामी तथा उनके समर्थक विद्वानो को ध्यान देना चाहिये।

इन्द्रिय-दमन

स्पर्शन (त्वचा), रसना (जीभ), घ्राण (नाक), नेत्र (आँख) और कर्ण (कान) ये पाँच द्रव्य तथा भाव इन्द्रियाँ है जो कि अपने विषयो को भोगने के लिए आत्मा को सदा व्याकुल किया करती है। इष्ट भोग्य उपभोग्य पदार्थ मिल जाने पर ये इन्द्रियाँ कुछ समय के लिए सन्तुष्ट रहती है और अनिष्ट (अरुचिकर) विषय भोग मिलने पर असन्तुष्ट हुआ करती है। ससारी जीव इन इन्द्रियो का दास (नौकर) बनकर अपने उद्धार का कोई कार्य नही कर पाता, सदा इनको पुष्ट सन्तुष्ट करने मे लगा रहता है और विविध प्रकार के अर्थ अनर्थ करके कर्म-सचय किया करता है।

मन भी एक गुप्त इन्द्रिय है अत वह दिखाई तो नही देता किन्तु अन्य इन्द्रियो के समान आत्मा मे अनेक प्रकार की इच्छाएँ (सकल्प विकल्प) उत्पन्न करके आत्मा को शान्त, स्थिर नही रहने देता, इसी कारण इसका दूसरा नाम 'अनिन्द्रिय' भी सिद्धान्त ग्रन्थो मे कहा है।

पाच इन्द्रियाँ और मन जो क्रम से शरीर, जीभ, नाक, आँख, कान और हृदय मे आठ पाँखुडी के कमल के आकार मे पौद्गलिक (शारीरिक-नोकर्म) रचना-मय है, उनका नाम द्रव्य-इन्द्रिय है और उन द्रव्य-इन्द्रियो मे अपने-अपने नियत स्थान पर जो मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से (क्रम से) छूने, रस चखने, सू घने, देखने, सुनने और विचार करने की चैतन्यशक्ति है, वह भाव-इन्द्रिय है। द्रव्य-इन्द्रियो की नैमित्तिक सहायता से ही भाव-इन्द्रियाँ छूने, चखने, सू घने, देखने, सुनने और विचारने का कार्य करती है। यदि द्रव्य-इन्द्रियो मे विकार (किसी तरह का बिगाड) उत्पन्न हो जावे तो आत्मा की उस भाव-इन्द्रिय रूप ज्ञानशक्ति के रहते हुए भी वह अपने विषय को जानने का कार्य नही कर सकती।

यदि किसी का वाहरी चर्म शरीर के किसी स्थान पर सुन्न (शून्य) हो जावे जैसे कि ऑपरेशन करते समय डाक्टर कर दिया करते है तथा कभी कभी किसी रोग के कारण भी हो जाता है तो उस स्थान की भाव-स्पर्शन इन्द्रिय छूते हुए भी अपने विषय का ज्ञान नही कर पाती, यदि जीभ कारणवश शून्य या विकृत हो जावे तो उससे ठीक रस-ज्ञान नही होता, न आत्मा स्पष्ट बोल सकता है। नाक के विकृत हो जाने पर सू घने की शक्ति निकम्मी वन जाती है। वाहरी नेत्रो के अन्धे हो जाने पर अन्तरग (भाव) नेत्र इन्द्रिय रूप आत्मा की शक्ति किसी पदार्थ को देख नही सकती। कानो के वहरे हो जाने पर भाव-कर्ण-इन्द्रिय सुन नही सकती, और द्रव्य मन मे विकार आ जाने पर आत्मा का भाव मन काम नही करता, आत्मा पागल (विचार शून्य) हो जाता है।

आत्मा इन इन्द्रियो की दासता से व्रत नियम आखडी आदि चारित्र द्वारा ही छूटता है। जैसे कि ब्रह्मचर्य का नियम लेने पर स्पर्शन इन्द्रिय की मैथुन विषयक दासता छूट जाती है। उपवास, एकाशन या रसत्याग रूप नियम कर लेने पर रसना-इन्द्रिय की गुलामी से आत्मा मुक्त हो जाता है। सुगन्धित पदार्थों—इत्र, कपूर आदि के सू घने का त्याग कर देने पर घ्राण-इन्द्रिय आत्मा को व्याकुल नही कर पाती। सिनेमा, खेल, नृत्य, तमाशा, नाटक आदि देखने का त्याग कर देने रूप आखडी (कडे नियम) मे नेत्र-इन्द्रिय की गुलामी नही रहती। और गीत गान न सुनने का नियम ले लेने पर कर्ण-इन्द्रिय आत्मा को अपना दास नही वना पाती। स्वाध्याय, सैद्धान्तिक विचार, अनित्य, अशरण आदि भावना चिन्तन, सामायिक आदि व्रत से मन की चचलता हट जाती है। तथा विषय-भोगो की अनेक तरह की इच्छाये उतने समय तक नही होती।

इस तरह चारित्र इन्द्रिय-दमन (इन्द्रिय-विजय) का मुख्य कारण है। अतएव व्रत नियम आदि व्यवहार-चारित्र आत्म-शुद्धि का मूल कारण है।

उपवास

दृष्टान्त के लिए हम यहाँ पर अनशन (उपवास) व्रत को लेते हैं। साधारण रूप से भोजन पान का त्याग कर देना उपवास माना जाता है, परन्तु इस विषय मे इतना जान लेना आवश्यक है कि किसी विवशता (लाचारी) से खाने पीने की लालसा रहते हुए भी भोजन न करना जैसे कि मर्यादित ज्वर (टाइफाइड) आदि के कारण कोई वस्तु न खाना, या घर परिवार से रुष्ट होकर खान पान का त्याग कर देना अथवा अपनी कोई हठ मनवाने के उद्देश से भोजन-पान छोड देना, भूख हडताल करना, उपवास नही है क्योकि इन कार्यों से कुछ आत्म-शुद्धि नही होती, इन से तो आत्मा मे विकृत दूषित भावो की वृद्धि होती है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए ग्रन्थकार ऋषियो ने उपवास का लक्षण बतलाते हुए लिखा है—

कषायविषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवास स विज्ञेय शेष लघनक विदु ॥

यानी—क्रोध, अभिमान, मायाचार, लोभ, रागद्वेष, काम आदि कषाय भाव, कामक्रीडा, रस-आस्वाद, सुगन्धित पदार्थों का उपभोग, मनोरजक दृश्य देखने, और रसीले गायन सुनने आदि विषय-भोगो का तथा सभी तरह के भोजन पान का जो त्याग किया जाता है, वह 'उपवास' है। इसके सिवाय—यानी-इन्द्रियो के विषय भोगो एव कषाय भावो को बिना त्यागे—जो केवल भोजन का त्याग किया जाता है, वह उपवास नही है, वह तो रोगी मनुष्य की तरह केवल लघन है।

इसी कारण उपवास के दिन उपवास करने वाला व्यक्ति अखड ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा राग द्वेष-वर्द्धक बातो के कहने, सुनने, देखने का त्याग करता है, घर के तथा व्यापार के कार्य नही करता,

तथा प्रथमानुयोग के ग्रन्थो मे मिलता है। आचार्य श्री समन्तभद्र के शिष्य शिवकोटि आचार्य ने 'भगवती आराधना' नामक एक विशाल स्वतन्त्र ग्रन्थ केवल इसी समाधि-मरण विषय पर लिखा है। प्रत्येक स्त्री पुरुष को उसका अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

सल्लेखना या समाधिमरण का सक्षेप स्वरूप यह है कि—

जिस तरह मनुष्य कोई वस्त्र अपने शरीर पर तभी तक पहनता है जब तक कि उस वस्त्र से उसका शरीर शीत ताप (सर्दी गर्मी), वायु आदि से सुरक्षित रहता है, उस वस्त्र के पुराने जीर्णशीर्ण हो जाने पर जब वह उसको शारीरिक-रक्षा के लिए अनुपयोगी देखता है, तब विना खेद और विषाद के स्वय उसे छोड देता है, दूसरा नया वस्त्र पहन लेता है। इसी तरह बुद्धिमान् प्राणी अपने शरीर को तभी तक सात्विक भोजन पान आदि से सुरक्षित रखता है, जब तक कि शरीर आत्म-धर्म—स्वाध्याय, सामायिक, अहिंसा पालन, ईर्यासमिति आदि—की साधना मे सहायक रहता है। जब उसे यह प्रतीत होता है कि अब मेरा शरीर धर्मसाधन मे सहायक न रह सकेगा, तब वह शारीरिक-पोषण की ओर से उदासीन होकर अपने शान्त विरक्त भावो की सभाल करता हुआ अपने कषाय भावो को कम करता है तथा आहार पान को क्रम-क्रम से कम करता हुआ शान्ति के साथ उस शरीर का परित्याग करके नवीन शरीर धारण करता है। इस तरह कषाय भाव (राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ, कामवासना आदि) तथा शरीर को कृश (कम, निर्बल) करना 'सल्लेखना' है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या ॥१२२॥

अर्थ—प्राणघातक कोई दुर्घटना या अन्य उपद्रव अथवा उपसर्ग आ

जाने पर, भोजन पान न प्राप्त हो सकने वाले अकाल के आ जाने पर या मरणयोग्य बुढ़ापा आ जाने पर अथवा असाध्य रोग मे ग्रसित हो जाने पर धर्म-साधन के साथ शरीर त्याग करना 'सल्लेखना' है।

सारांश यह है कि मनुष्य को जब यह प्रतीत हो कि अब शरीर समाप्त होने वाला है, यह बच नहीं सकता, तब अपने घर, परिवार, मित्र, शत्रु आदि को बुलाकर सबसे क्षमा माग कर सबके साथ रागद्वेष का परित्याग करे और भोजन पान की मात्रा कम करता जावे, इस तरह बाहर से निश्चिन्त होकर अपने अन्तरंग मे धार्मिक शान्त भावनाओं को भाता हुआ बिना किसी खेद शोक विषाद के शरीर को छोड देवे। इस तरह निष्कषाय रूप से शान्तिमय वीरता के साथ अपने शारीरिक त्याग करने को सल्लेखना, समाधिमरण, वीरमरण, पडितमरण आदि कहते हैं।

श्री अमृतचन्द्र सूरि ने भी पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय मे 'सल्लेखना' का अच्छे सुन्दर शब्दो द्वारा विधान एव प्रेरणा की है।

श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज के नेत्रों की ज्योति जब मन्द हो गई, भोजन पान मे भोजन की अशुद्धि को देखने भालने तथा चलते समय ईर्या समिति के योग्य उनके नेत्र न रहे, तब कुन्थलगिरि तीर्थ-क्षेत्र पर उन्होंने बड़ी शान्ति के साथ आहार पान त्याग कर धर्म-श्रवण एव धर्म-आराधन करते हुए शान्ति के साथ समाधिमरण किया।

आयु-बन्ध

समाधिमरण का मुख्य उद्देश्य मरण-समय अशान्त दूषित भावो से आत्मा को सुरक्षित रखना है, जिससे कि जीवन भर की धर्म-साधना अन्त समय नष्ट-भ्रष्ट न होने पावे।

इसके सिवाय आगामी भव का आयु कर्म भी अष्ट अपकर्ष कालो में न बधने पर प्राय अन्त समय मे बधता है, उस मरण-समय जीव के

जैसे अच्छे या बुरे परिणाम होते हैं उसी तरह का शुभ या अशुभ आयुकर्म का वन्ध होता है। तदनुसार मरण समय धर्म-आराधना वाले शुभ परिणाम रहने से देव या मनुष्य आयु कर्म का वन्ध होता है। इसलिए भी समाधि-मरण आवश्यक है। मरण समय शुद्ध परिणामो के कारण मुक्ति भी हो जाती है, जैसे कि अन्तकृत केवली।

इन्ही दो प्रयोजनो की सिद्धि के लिए अपनी जीवित अवस्था मे बुद्धिमान मनुष्य आगामी मरण समय के अवसर पर 'समाधिमरण' की भावना किया करते है।

इस तरह सल्लेखना भी एक हितकारी चारित्र का अश है

ऐतिहासिक दृष्टान्त

मृगसेन धीवर

प्राचीन समय मे एक नगर मे मृगसेन नामक एक धीवर रहता था। प्रतिदिन नदी तालाव आदि जलाशय मे जाल डाल कर मछलिया पकडना उसका काम था। इसी काम से वह अपनी आजीविका किया करता था।

एक दिन उस नगर मे एक मुनिराज आये। नगर के नर नारियो ने उनका उपदेश सुनकर विविध प्रकार के व्रत नियम मुनिराज से ग्रहण किये। अन्त मे मृगसेग धीवर भी मुनि महाराज के उपदेश से प्रभावित हुआ, उसने भी अपने उद्धार के लिये अपने योग्य व्रत देने इच्छा प्रगट की।

मुनिराज ने उससे मछली पकडने का हिसक व्यापार छोड देने की प्रेरणा की परन्तु यह मृगसेन की आजीविका का प्रश्न था, अत उस व्रत को वह न ले सका। तव मुनिराज ने उसकी हिसावृत्ति पर थोडा प्रतिवन्ध लगाते हुए जाल मे या काटे मे फसकर आई हुई पहली मछली छोड देने का व्रत उसे दिया। मृगसेन ने यह व्रत सहर्ष स्वीकार किया। तदनुसार वह प्रतिदिन जाल मे या काटे मे

आई हुई पहली मछली को कोई चिन्ह लगा कर छोड देता था। और उस छोडी हुई मछली को उस दिन फिर नही लेता था। पानी मे वापिस छोड देता था।

एक दिन उसके जाल मे जो मछली आई उसके गले मे उसने अपने शिर की पगडी मे मे थोडा कपडा फाडकर बाँध दिया और उसे छोड दिया। सयोग से उसके जाल मे बार बार वही मछली आती रही, जिसे कि अपने व्रतके अनुसार वह बार बार उसे जल मे छोडता रहा। दिनभर सात बार जाल डालने पर भी कोई अन्य मछली उसके हाथ न आई, तब वह खाली हाथ घर लौट आया।

किन्तु खाली हाथ आने के कारण उसकी स्त्री ने क्रुद्ध होकर उसे घर मे ने घुसने दिया। तब वह शान्ति और सन्तोप से रात को घर के बाहर ही सो गया। उसी दशा मे किसी तरह उस की मृत्यु हो गयी। तदनन्तर वह अपने उस सीमित थोडे से अहिसक व्रत का दृढता से पालन करने के कारण मर कर एक अच्छे कुल मे उत्पन्न हुआ। वहा वह सात बार प्राणघातक विपत्तियो से सुरक्षित रहा तथा अपने जीवन मे उन्नति करता गया।

यमपाल चांडाल

काशी मे एक यमपाल नामक चाण्डाल रहता था, राजा जिसको प्राणदण्ड देता उस मनुष्य को फासी पर ही चढाना उसका काम था। एक दिन एक मुनि से उसने चतुर्दशी के दिन किसी को भी फासी न चढाने का व्रत लिया।

अष्टान्हिका के दिनो मे काशी-नरेश ने जीवहिसा न करने की नगर मे घोपणा करा दी। परन्तु राजपुत्र बहुत मासलोलुपी था, अत उस ने एक बाग मे छिपकर एक बकरे को मार डाला और उसके मास से अपनी जीभ को तृप्त किया।

इस समाचार को जब राजा ने सुना तो क्रोध मे आकर उसने अपने पुत्र को फासी का दण्ड दिया।

सयोग से वह दिन चतुर्दशी का था। यमपाल चाण्डाल को बुलाकर राजा ने अपने पुत्र को फासी देने की आज्ञा दी। किन्तु यमपाल ने चतुर्दशी को फासी न देने के अपने व्रत की वात राजा को कहकर उस दिन फासी चढाने मे अपनी असमर्थता (लाचारी) प्रगट की। परन्तु राजा नही माना, उधर यमपाल ने भी उस दिन अपना अहिंसा का व्रत नही तोडा। इस पर राजा ने क्रोध मे आकर अपने पुत्र को तथा यमपाल चाडाल को मगरो से भरे हुए गहरे तालाव मे पटकवा दिया।

राजपुत्र को तो मगरमच्छो ने खाकर समाप्त कर दिया किन्तु अहिंसा व्रत के अडिग व्रती यमपाल को दैवीलीला ने बचा लिया और सिंहासन पर विठा कर देवो ने उसका वहुत सत्कार किया।

भील

वन मे रहकर पशु पक्षियो की हिंसा से अपना निर्वाह करने वाला एक भील था। उसने मुनि महाराज की प्रेरणा से सिर्फ कौए के मास खाने का त्याग कर दिया।

एक वार वह भील बीमार हो गया तब एक वैद्य ने उसको औषधि के रूप मे उस रोग से छुटकारा पाने के लिये कौए का मास खाना बतलाया। परन्तु भील ने अपने व्रत के अनुसार कौए का मास नही खाया। इस लिये उसका रोग वढता गया। किन्तु उसने शान्ति के साथ मृत्यु को स्वीकार किया, अपने व्रत को नही तोडा।

उसी समय उसके देव-आयु का बध हुआ और वह मर कर देव हुआ।

भगवान महावीर का जीव तीर्थंकर होने से पहले सिंह की पर्याय मे था। हिरन आदि जीवो की हिंसा करके अपना पेट भरा करता था

सयोग से एक दिन दो ऋद्धिधारक मुनि उग वन मे आये उन्होने अवधिज्ञान से उसकी पूर्व पर्याय जानी और उसको हिंमा न करने का उपदेश दिया। उपदेश से प्रभावित हो उस सिंह ने हिंसा का त्याग कर दिया और समाधि के साथ शान्ति मे मरण करके उसने देवपर्याय पाई। फिर क्रम से उन्नति करता हुआ वह आठवे भव मे अन्तिम तीर्थङ्कर हुआ।

इम तरह की अनेक कथाऐ शास्त्रो मे मिलती है। इन कथाओ से यह प्रमाणित होता है कि यदि छोटे से पापकर्म के त्याग रूप छोटे से व्रत नियम आखडी का भी शुद्ध मन से दृढता के साथ पालन किया जावे तो उससे भी महान् शुभ फल प्राप्त होता है। अत आत्म-उन्नति के चाहने वाले स्त्री पुरुषो को अपने विषय-भोगो पर अपनी शक्ति के अनुसार थोडा या वहुत प्रतिवन्ध लगाकर व्रत नियम आखडी लेना लाभदायक है।

उपादान निमित्त सम्वाद

जिस प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 'ज जस्स जम्मि देशे' आदि ३२१-३२२-३२३ वी गाथा को गलती से क्रमबद्ध पर्याय का समर्थक समझकर श्री कहान जी स्वामी ने अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए **"ज्ञान स्वभाव और ज्ञेय स्वभाव"** नामक पुस्तक के पृष्ठ २४१ पर प्रमाणरूप मे उपस्थित किया है और श्री प० फूलचन्द जी ने उसका अनुकरण करके अपनी पुस्तक ,जैनतत्वमीमासा मे पृष्ठ १८३ पर उल्लिखित किया है, लगभग वैसी ही गलती आप दोनो महानुभावो ने स्व० कवि प० भैया भगवतीदास द्वारा लिखित 'उपादान निमित्त सवाद' को निमित्त कारण की अकिंचित्करता सिद्ध करने के लिए अपनी पुस्तको मे दिया है।

श्री प० भैया भगवतीदास के हृदय मे निमित्त की अकिंचित्करता की एकात भावना नही थी, यह उनके दोहो से प्रगट होती है। इसके

सिवाय उनके वे ४७ दोहे कोई सिद्धान्त वचन नही हैं, वे केवल एक दृष्टिकोण से उपदेश रूप हैं, अत उनका प्रमाण मे उपस्थित करना कोई आगम प्रमाण नही है।

हम यहाँ उन समस्त ४७ दोहो को लिखकर उनका भाव प्रगट करते हुए इस लेख को वढाना नही चाहते, अत पाठको की जानकारी के लिए कतिपय दोहो को ही देना उपयुक्त समझते है।

"भैया भगवतीदास जी ने पहले के ७ दोहो मे कोई उल्लेखनीय बात नही कही, अत हम उनको छोडकर ८ वे दोहे से उपादान निमित्त सवाद के भाव पर प्रकाश डालते है, पाठक महानुभाव ध्यानसे उस पर विचार करे। भैया भगवतीदास निमित्त का पूर्व-पक्ष उपस्थित करते हुए लिखते है—

देव जिनेश्वर गुरु यती, अरु जिन-आगम सार।
इह निमित तें जीव सव, पावे हैं भव पार॥८॥

यानी—निमित्त कारण उपादानकारण से अपनी उपयोगिता वतलाते हुए कहता है कि श्री जिनेन्द्र भगवान, सत् गुरु और सत् शास्त्र के निमित्त से ससारी जीव मुक्ति प्राप्त करता है।

निमित्त का पक्ष लेकर भैया भगवतीदास ने उस अकाट्य सत्य को इस दोहे मे रख दिया है जिसमे अणुमात्र भी गलती नही है। अनादि काल से अव तक जितने जीव भी भव-सागर से पार हुए हैं वे देव गुरु शास्त्र के निमित्त से ही आत्म-अनुभूति, तत्वज्ञान तथा आत्म-स्थिरता पाकर मुक्त हुए हैं। किसी ने अपने चरम भव मे और किसी ने पूर्व भव मे इन निमित्तो से आत्म-वोध प्राप्त किया। विना इन तीन, एक या दो निमित्त मिले किसी को आत्म-सिद्धि की भूमिका नही मिली। जिन सिद्ध-आत्माओं का इतिहास उपलब्ध है उस इतिहास की साक्षी से इस वात की सत्यता आकी जा सकती है।

मोक्षप्राभृत मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने यही तथ्य अपनी निम्नलिखित गाथा से प्रकट किया है—

हिसारहिए धम्मे, अट्ठारह दोसवज्जिए देवे।

निग्गथे पव्वयणे, सद्दहण होइ सम्मत्त ॥६॥

यानी—हिसा रहित धर्म मे, अठारह दोष रहित देव मे तथा परिग्रह रहित गुरु मे, सत्यशास्त्र मे या निर्ग्रन्थ प्रवचन मे (निर्ग्रन्थ गुरु के प्रवचन मे) श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

इसका भाव वही है जो भैया भगवतीदास ने अपने उक्त आठवें दोहे मे बतलाया है। इसी प्रकार मुक्ति के लिए अनिवार्य निमित्त कारणकता श्री समन्तभद्र, वीरसेन आदि आचार्यो ने भी अपने अपने ग्रंथो मे यथास्थान बतलाई है।

श्री कहान जी स्वामी की श्रद्धा मे जो क्रान्तिकारी परिवर्तन आया उसमें निमित्तकरण समयसार ग्रथ तथा परोक्षरूप मे कुन्दकुन्द आचार्य हैं, इस समय जिन मन्दिर तथा जिनेन्द्र प्रतिमा भी है। श्री प० फूलचन्द्र जी के तात्विक ज्ञान मे निमित्त कारण सिद्धान्त ग्रथ तथा उनके अध्यापक, आध्यात्मिक श्रद्धा के निमित्त स्व० आचार्य शान्ति सागर जी महाराज, हैं, वर्णी जी तथा जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा का दर्शन है।

तदनन्तर कविवर उपादान का पक्ष उपस्थित करते हुए ९ वें दोहे मे कहते हैं—

यह निमित्त इस जीव को, मिल्यो अनन्ती वार।

उपादान पलटो नही, तो भटक्यो ससार ॥९॥

निमित्त कारण को उत्तर देते हुए उपादान कारण कहता है कि "देव गुरु शास्त्र का निमित्त तो ससारी जीव को अनन्त बार मिला परन्तु उपादान उन निमित्तो से कुछ पलट न सका (सम्यग्दर्शन प्राप्त न कर सका), इसी कारण वह ससार मे भटकता रहा।"

यहाँ पर विचारणीय है कि यदि कोई ऊसर भूमि को विना सुधारे अनन्त वार वीज वोता रहे तो वहाँ खेती क्या एक अकुर भी न उग सकेगा। तदनुसार जब तक अन्तरग प्रतिवन्धक निमित्त कारण मिथ्यात्व मोहनीय कर्म दूर न होगा तब तक अनन्तो वार देव शास्त्र गुरु का समागम होने पर भी ससार का भटकना न मिट सकेगा।

इससे भी निमित्तकारण की प्रवलता और सार्थकता की सिद्धि होती है कि पौद्गलिक द्रव्यकर्म की अन्तरग निमित्तकारणता इतनी प्रवल है कि देव शास्त्र गुरु द्वारा प्रवुद्ध होता हुआ भी जीव अपना हितसाधन करने मे नितान्त असफल रहता है।

अभव्य जीव और दूरातिदूर -भव्य जीव इसी अन्तरग निमित्तकारण की प्रबलता से अनन्त भविष्यत काल तक सम्यक्त्व प्राप्त न कर सकेगा।

दोहे से निमित्तकरण का मडन होता है—खडन नही होता। भगवान ऋषभनाथ का पौत्र मरीचिकुमार तत्कालीन बाहरी निमित्त-कारण (समवशरण) से लाभ न उठा सका तो उसका निमित्तकरण प्रवल मिथ्यात्व का उदय था जिसने उसकी उपादान शक्ति को पराभूत कर रक्खा था। सिह की पर्याय मे जब उपादान ठीक मार्ग पर आया उस समय भी दो चारण मुनियो की धर्म-देशना निमित्तकारण हुई।

इस तरह उपादान को कार्यानुकूल बनाना या बिगाडना अथवा विविध रूप परिणमन करना अन्तरग वहिरग निमित्तकारणो के अनुसार है।

"श्री भैया भगवतीदास निमित्त कारण की ओर से दूसरी युक्ति देते हैं—

कै केवलि कै साधु के, निकट भव्य जो होय।
सो क्षायिक सम्यक लहै, यह निमित्त बल जोय ॥१०॥

यानी—निमित्तकारण अपने बल की साक्षी देते हुए कहता है कि

क्षायिक मम्यक्त्व उसी पुरुष को होता है जिसको केवली या श्रुतकेवली के निकट रहने का निमित्त मिलता है।

निमित्तकारण की यह वात यथार्थ है, धवल सिद्धान्त, गोम्मटसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थ इस वात का विधान करते है कि क्षायिकसम्यक्त्व का प्रारम्भ केवली, श्रुत-केवली के पास ही होता है।

निमित्त कारण की इस युक्ति का निराकरण करने के लिए कवि महोदय उपादानकारण की ओर से उत्तर देते है—

केवलि अरु मुनिराज के, पास रहे वहु लोय
पै जाको सुलट्यो धनी, क्षायिक ताको होय ॥११॥

यानी—उपादान अपना महत्व वतलाने के लिये निमित्त से कहता है कि केवली और श्रुतकेवली मुनि के निकट तो वहुत से मनुष्य रहते हैं, उन सव को उनकी समीपता के निमित्त से क्षायिक सम्यक्त्व क्यो नहीं हो जाता ? क्षायिक सम्यक्त्व उसी व्यक्ति को होता है जिसका उपादान क्षायिकसम्यक्त्व के योग्य होता है।

उपादान का यह उत्तर तर्कशास्त्र के अनुमार नही। क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ और केवली या श्रुत-केवली की निकटता मे अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति निर्दोप रूप से पाई जाती है। तदनुमार—जिस भव्य जीव को क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ होता है, वह केवली या श्रुतकेवली के पास अवश्य होता है। जो व्यक्ति केवली या श्रुतकेवली के निकट नहीं होता, वह क्षायिक सम्यक्त्व का प्रारम्भ भी नही कर सकता।

इस निर्दोप व्यप्ति के आधार पर क्षायिक सम्यक्त्व के लिए केवली या श्रुतकेवलो का निमित्त मिलना अनिवार्य आवश्यक है

केवली और श्रुतकेवली की निकटता मिलते हुए भी जिनको क्षायिक सम्यक्त्व नही होता उनके अन्तरग प्रतिवन्धक निमित्त कारण (दर्शन मोहनीय कर्म का अस्तित्व) वना हुआ है।

अत केवली, श्रुतकेवली के पादमूल मे क्षायिक सम्यक्त्व होने या न होने—दोनो अवस्थाओ मे निमित्त-कारण कार्यकारी है।

इसके अनन्तर भैया भगवतीदास निमित्त कारण की तीसरी बात रखते हैं—

हिंसादिक पापनि किये, जीव नर्क मे जांहि।
जो निमित्त नहि काम को, तो इमि काहे कहांहि॥१२॥

अर्थ—निमित्त कारण अपनी सार्थकता सिद्ध करने के लिए कहता है कि जीव हिंसा आदि पापो के निमित्त से नरक को जाते है। यदि निमित्त कारण अकिंचित्कर हो तो धर्मशास्त्र ऐसा क्यो कहते है।

श्री प० फूलचन्द्र जी शास्त्री और श्री कहान जी स्वामी तथा मुमुक्षु सज्जन स्वय विचार करें कि नरक-आयु का वन्ध हिंसादिक पाप कार्यो से होता है या नही ?

इसी कारण आचारशास्त्र भाव-हिंसा तथा द्रव्यहिंसा से वचने का उपदेश देते है और समस्त मुनि, गृहस्थ हिंसादिक पापो का यथासभव परित्याग करते हैं। अत निमित्त कारण का उक्त कथन गलत नही है।

तव इसका निराकरण करने के लिए कवि उपादान का पक्ष यो उपस्थित करते हैं—

हिंसा मे उपयोग जहँ, रहे ब्रह्म के राच।
तेई नर्क मे जात हैं, मुनि नहिं जांहि कदाचि॥१३॥

यानी—जिस जीव का हिंसा मे उपयोग होता है वही नरक को जाता है, हिंसा मे उपयोग न रखने वाले मुनि नरक मे कदापि नही जाते।

उपादान का यह कहना अधपका या अर्द्ध सत्य सरीखा है। निमित्त ने यह कव कहा था कि हिंसा मे उपयोग न होते हुए भी नरक आयु का वन्ध होता है। भावहिंसा विना उपयोग के होती नही है। यदि सोते, खाते

पीते, आते, जाते समय प्रमाद योग हो जावे तो मुनि भी भावहिसा से नही वच सकते। हा मुनियो के छहकाय के जीवो की द्रव्यहिसा का त्याग होता है, उतने अश मे उनके हिंसा पाप नही होता, अप्रमत अवस्था मे वे द्रव्य भाव दोनो रूप से अहिंसक होते है, अत हिंसा का लक्षण जहा घटित होता है वहाँ नरक आयु का वन्ध होता है, यह वात निमित्त की अकाट्य है। द्रव्यहिसा प्राय भावहिसा के ही कारण होती है। इसलिए जिसको हिंसा आदि पाप कहा जाता है वह नरक-आयु के वन्ध का निमित्त है। यह सिद्धान्त शास्त्र का विधान है।

तदनन्तर निमित्त कारण अपना चौथा पक्ष रखता है—

दया दान पूजा किये, जीव सुखी जग होय।
जो निमित्त झूठो कहो, यह क्यो माने लोय ॥१४॥

अर्थ—निमित्तकारण कहता है कि यदि मैं झूठा हूँ तो समस्त जगत ऐसा क्यो मानता है कि दया, दान, पूजा के निमित्त से जीव जग मे सुखी होता है।

'धम्मो दयाविसुद्धो, दाण पूजा मुक्ख, सावय धम्मे ण सावया तेण विणा, इत्यादि श्री कुन्दकुन्द आदि ऋषियो के वाक्य निमित्त कारण की उक्त वात का समर्थन करते है। जीव को सुखशान्ति धर्म के निमित्त से मिलती है। धर्म दया-दान-पूजा आदि रूप है। अत निमित्तकारण का कथन अक्षरश सत्य है। सर्वार्थ-सिद्धि के भाषाकार श्री प० फूलचन्द्र जी क्या इसे असत्य ठहराने का साहस कर सकते है और श्री कुन्दकुन्द आचार्य को आराध्य गुरु मानने वाले श्री कहान जी स्वामी भी क्या इसे असत्य ठहराने का यत्न करेगे ?

अब इसके प्रत्युत्तर मे उपादान की युक्ति सुनिये—

दया दान पूजा भली, जगत माहि सुखकार।
जह अनुभव को आचरण, तह यह वन्ध विचार ॥१५॥

यानी—दया दान पूजा क्रिया जगत मे अच्छी है, सुखदायिनी है किन्तु जहा पर अनुभव का आचरण है वहाँ इसे वन्ध रूप जानना चाहिए।

भैया भगवतीदास ने दया पूजा की सुख-निमित्त-कारणता स्वीकार कर ली परन्तु उपादान का सन्मान रखने के लिए इन क्रियाओ को कर्म-वन्ध का कारण वतला दिया। सो यहा पर इतना सूक्ष्म विचार और कर लेना चाहिए कि दया मे निर्दयता के त्याग रूप, दान मे परिग्रह के त्यागरूप और पूजा मे कुदेव सेवन की विरक्तिरूप जितना भाव-अंश है वह कर्म-सवर और कर्म-निर्जरा का कारण है। तत्वार्थसूत्र ९-४५ के 'सम्यग्दृष्टि श्रावक' आदि सूत्र का अभिप्राय यही है। जितने अश मे राग भाव है उतने अश मैं शुभ वन्ध है। इस लिए दया दान पूजा कार्य सवर निर्जरा और शुभ वन्धकारक है, अत दोनो रूप मे उपादेय हैं। वैसे राग अश तो ध्यान अवस्था मे भी दशवें गुणस्थान तक रहता ही है। उस अश के कारण शुक्लध्यान को न हेय माना जाता है, न वन्ध का निमित्त।

इस कारण उपादान का यह कथन भी वलवान नही।

"तदनन्तर भैया भगवतीदास निमित्त का पक्ष उपस्थित करते है—

यह तो वात प्रसिद्ध है, सोच देख उर माँहि।
नरदेही के निमित्त विन, जिय मुक्ति न जाहि॥१३॥

अर्थ—निमित्त कारण कार्यसिद्धि मे अपनी उपयोगिता वतलाता हुआ उपादानकारण को सम्बोधित करके कहता है कि 'तू इस प्रसिद्ध बात का तो विचार कर कि "जीव मनुष्य के शरीर का निमित्त विना मिले मुक्ति नही जाता।"

निमित्त का यह कथन अकाट्य सत्य है क्योकि छठा, सातवाँ आठवाँ आदि गुणस्थान मनुष्यभव मे ही आत्मा को प्राप्त हुआ करता

है। तदनुसार मुक्ति का पूर्ववर्ती १३वाँ, १४वाँ गुणस्थान मानव शरीर का निमित्त मिले विना कभी नही होता।

निमित्त की इस बात का खडन करने के अभिप्राय से भैया जी उपादानकारण की ओर से बोलते है—

देह पीजरा जीव को, रोकै शिवपुर जात।
उपादान की शक्ति सो, मुक्ति होत रे भ्रात॥१७॥

यानी—हे निमित्त! आत्मा के लिए सभी शरीर पिंजरे की तरह हैं, अत शरीर आत्मा को मुक्ति जाने से सदा रोका करता है। आत्मा उपादान की शक्ति से ही मुक्त हुआ करता है।

उपादान का यह कथन निमित्त की युक्ति छिन्न-भिन्न नही करता क्योंकि जिस तरह काटा काटे के द्वारा निकाला जाता है, लोहा लोहे से कटता है। उसी तरह देह पीजरे के द्वारा ही देह का बन्धन कटता है। शारीरिक बन्धनका काटने वाला मानव शरीर है। उपादान की शक्ति मानव-शरीर का निमित्त पाकर ही आत्मा को ससार से मुक्त करती है। अत उपादान का यह उत्तर प्रकारान्तर मे निमित्त का समाधान ही करता है।

तत्पश्चात् निमित्त अपनी सामर्थ्य प्रगट करने के लिए छठी युक्ति रखता है—

उपादान सब जीव पै, रोकनहारो कौन।
जाते क्यो नहीं मुक्ति मे, बिन निमित्त के हौन॥१८॥

यानी—निमित्त कहता है कि उपादान भाई! तुम तो प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ तन्मय होकर रहते हो, तुमको कार्य करने से कौन रोकता है। यदि निमित्त के सहयोग बिना भी मुक्ति दिला सकते हो, तो सभी जीव (देव, नारकी, तिर्यञ्च भी) मुक्त क्यो नही हुआ करते?

मुक्ति के लिए मानवशरीर का निमित्त अनिवार्य बतलाने के लिए निमित्त ने यह अच्छी युक्ति दी है।

इसके उत्तर मे उपादान कहता है—

उपादान सु अनादि को, उलट रह्यो जगमाहिं।
सुलटत ही सूधौ चलै, सिद्धलोक को जाहि ॥१६॥

"उपादान कारण जगत मे अनादि काल से उलटी चाल चल रहा है (राग द्वेष आदि करके ससारी बना हुआ है) जब सुलटकर सीधा चलने लगता है (कषाय भाव छोड देता है) तब मुक्त हो जाता है।"

उपादान ने बात ठीक कही परन्तु निमित्त की युक्ति का ठीक उत्तर नही दिया। उपादान यदि सुलटकर सीधा चलता हुआ मुक्त होता है, तो वह नरक, पशु देव शरीर से मुक्त क्यो नही हो जाता? मनुष्यशरीर के निमित्त का अवलम्बन उसे अनिवार्य रूप से क्यो लेना पडता हे? अत उपादान का यह उत्तर अयुक्त एव व्यर्थ है।

सातवी युक्ति लेकर निमित्त फिर बोलता है—

कहु उपादान बिन-निमित्त ही, उलट रहौ उपयोग।
ऐसी बात न सभवै, उपादान तुम जोग ॥२०॥

अर्थ—उपादान! जरा सभलकर बोलो, कहीं निमित्त के बिना भी उपयोग के उलटने की सभावना हो सकती है? ऊटपटाग उत्तर देना तुम्हारे योग्य नही।

निमित्त के इस कथानक मे लेशमात्र असत्य नही क्योकि आत्मा की उलटी प्रवृत्ति मोहनीय कर्म के निमित्त से हो रही है, इस कारण जैसे मुक्त होने के लिए नर-देह का निमित्त मिलना आवश्यक है उसी प्रकार आत्मा ससार मे भ्रमण भी मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों के निमित्त से करता है।

निमित्त की उस बात का उत्तर देते हुए उपादान युक्ति देता है—

उपादान कहै रे निमित्त, हम पै कही न जाय।

ऐसी ही जिन केवली, देखे त्रिभुवन राय ॥२१॥

अर्थ—जब निमित्त की युक्ति का खंडन करने के लिए उपादान को कोई तर्क न सूझी तब असहाय-सा होकर वह बोला कि "भाई निमित्त! अनादिकाल से यह आत्मा संसार मे उलटी चाल चलकर क्यो भटक रहा है? इस विषय मे मै कुछ नही कह सकता। केवली भगवान ने ऐसी ही दशा देखी है।"

उपादान का यह कथन अयुक्त है क्योकि केवली भगवान् ने वही कुछ देखा है, जो कि ऊपर निमित्तने बतलाया है "कर्म बन्धन में मोहनीय कर्म का निमित्त हैं।" (द्रव्यकर्म भावकर्म के लिए और भावकर्म द्रव्य कर्म के लिए निमित्त बनता है) यह बात सर्वज्ञ भगवान् ने ही कही है। इस सत्य को स्वीकार करने मे उपादान क्यो हिचकिचाता है?

इसके आगे निमित्त उपादान से कहता है—

जो देख्यो भगवान् ने, सो ही साचो आहि।

हम तुम सग अनादि के, बली कहीगे काहि ॥२२॥

यानी—भगवान् के देखे अनुसार तो सत्य बात यह है कि अनादि काल से हम और तुम (निमित्त, उपादान) एक साथ रहे हैं। फिर तुम मुझसे अधिक बलवान कैसे बन गये?

ठीक है 'अनादिसम्बन्धे च" (तत्वार्थसूत्र। २-४१) सूत्र का भी यही समर्थन है कि संसारी बनाये रखने वाला द्रव्यकर्म आत्मा के साथ अनादि काल से है।

प्रत्युत्तर मे उपादान बोलता है—

उपादान कहै वह बली, जाको नाश न होय।

जो उपजत विनशत रहे, बली कहा तै सोय ॥२३॥

यानी—उपादान कहता है कि वलवान वही हो सकता है जिसका नाश न होता हो (जैसा कि मैं)। तुम उत्पन्न होते हो तो कभी नष्ट होते हो, अत तुम वलवान नही कहला सकते ।

उपादान का यह कथन अर्द्धसत्य है क्योकि द्रव्यकर्म कभी लगते (आस्रव वन्ध) है और कभी छूटते (निर्जरा) रहते है। आत्मा मे ऐसी वात नही होती तथा आत्मा अपने पराक्रम से कर्मो को परास्त करके मुक्त होता ही है, अत आत्मा का वल अधिक माना जाता हे। परन्तु द्रव्यदृष्टि से पुद्गल (निमित्त) भी अविनाशी है और पर्याय दृष्टि से आत्मा का भी ससार मे जन्म मरण हुआ करता है।"

इसके आगे निमित्त कारण उपादान से प्रश्न करता है—

उपादान तुम जोर हो, तो क्यो लेत अहार ।
पर निमित्त के योग सो, जीवत सब ससार ॥२४॥

हे उपादानकारण ! यदि तुम वलवान हो तो भोजन क्यो करते हो ? समस्त ससारी जीव भोजन के निमित्त से जीते हे।

निमित्तकारण का कहना असत्य नही क्योकि यदि यह शरीर ही भोजन करता तो एक तो निर्जीव शरीर को भी भोजन करना चाहिये था। दूसरे—भोजन की इच्छा, भोजन कर लेने पर तृप्ति, सुस्वादु भोजन की रुचि, अनिष्ट भोजन से अरुचि, भोजन न मिलने पर दु ख, आत्मा अनुभव करता है। दीर्घकाल तक भोजन न मिलने पर जीव मर जाता है, भोजन के आश्रय ससारी जीव जीता है। अत ससारी जीव का जीवन आहारवर्गणा के निमित्त से होता है। केवल उपादान से जीवन-क्रिया ससारी जीव की नही होती।

इस के उत्तर मे उपादान कहता है—

जो आहार के जोग सो, जीवत है जग माहिं ।
तो वासी ससार के, मरते कोऊ नाहिं ॥२५॥

अर्थ—उपादानकारण कहता है कि यदि आहार के करने से ही ससारी जीव जिया करते, तो फिर कोई भी जीव नही मरता, खाते पीते जीते रहते ।

उपादान का यह उत्तर युक्ति-सगत नही क्योकि प्रत्येक कार्य अनेक कारणो से सम्पन्न होता है। ससारी जीवो के जीवन (कार्य) मे भी आयु, श्वासनि श्वास, भोजन, पान (जल आदि पीना) आदि अनेक निमित्तकारण आवश्यक होते है। अकेला भोजन ही नही होता। अत उनमे से यदि अन्य कोई कारण (आयु आदि) कम हो जावे (न रहे) तो भी जीवन नही रह पाता, मृत्यु हो जाती है।

इसके सिवाय ससारी जीव ६ प्रकार के (नो-कर्म, कर्म, कवल, लेप, ओज, मानसिक) आहारो मे से कर्म-आहार तो प्रति समय किया ही करता है और इसके अतिरिक्त ५ आहारो मे से दो आहार (नोकर्म तथा शेष तीनो मे से कोई एक) भी (विग्रहगति के १-२-३ समयो के सिवाय) प्राय किया करता है। यानी—विग्रहगति के सिवाय सदा आहारक बना रहता है । अत उपादान का उत्तर युक्तियुक्त नही ।

निमित अपनी उपयोगिता का परिचय फिर देता है—

सूर सोम मणि अग्नि के, निमित लखे ये नैंन ।
अन्धकार मे कित गयो, उपादान दृग दैन ॥२६॥

निमित्त कहता है कि 'जीवो के नेत्र सूर्य, चन्द्र, रत्न और अग्नि के प्रकाश के निमित्त से देखते है। अन्धकार मे दृष्टि (नजर) देने वाला उपादान कहाँ चला जाता है ?'

निमित्त का कहना यथार्थ है, नेत्रो द्वारा देखने की उपादान शक्ति प्रकाश के निमित्त से ही मूर्तिक पदार्थों को देखने का कार्य करती है।

उपादान इसके उत्तर मे कहता है—

सूर सोम मणि अग्नि जो, करे अनेक प्रकाश ।
नैनशक्ति विन ना लखै, अन्धकार सम भास ॥२७॥

अर्थ—उपादानकारण कहता है। कि सूर्य, चन्द्र, रत्न, अग्नि, दीपक जो अनेक प्रकार का प्रकाश करते हैं, वह सब व्यर्थ है, वे अन्धकार के समान ही प्रतीत होते है। यदि नेत्रो मे देखने की (उपादान) शक्ति न हो।

उपादान का यह उत्तर ऊटपटाग है क्योकि "आखो से पदार्थों के देखने के लिए प्रकाश अनिवार्य निमित्ताकारण है।" निमित्ताकारण का यह पक्ष ज्यो का त्यो अक्षुण्ण वना हुआ है। उपादान का उपर्युक्त उत्तर निमित्त की युक्ति को काट नही सका। अन्धा मनुष्य प्रकाश मे भी नही देख पाता, इसमे भी (द्रव्येन्द्रिय) नेत्र का खराव हो जाना निमित्ताकारण है। अधे मनुष्य मे चक्षु-इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से देखने की उपादान शक्ति विद्यमान है किन्तु वह उपादान शक्ति स्वस्थ नेत्रो का निमित्त न मिलने से देखने का कार्य नही कर पाती। इस तरह उपादान का यह उत्तर निमित्त की उपयोगिता या सार्थकता को पुष्ट करता है। पदार्थो को देखने मे प्रकाश निमित्त कारण है, न देख सकने मे पौद्गलिक नेत्रो की खरावी प्रतिवन्धक रूप निमित्ताकारण है।

निमित्तकारण फिर एक अन्य युक्ति रखता है —

निमित्त कहै फिर जीव को, मो विन जगके माँहि।
सवै हमारे वश परे, हम विन मुक्ति न जाहि ॥२८॥

यानी—इस ससार मे ऐसा कौन जीव है जो मेरे विना हो ? समस्त जीव मेरे वश मे है। मेरे विना कोई जीव मुक्त नही होता।

निमित्त का यह कहना भी युक्ति-युक्त यथार्थ है क्योकि द्रव्य-

कर्म और नोकर्म ससारी जीव को लगे हुए है, ससारी जीव इनके निमित्त से ही अपने ससारी कार्य करता है और मुक्ति पाने के लिए मनुष्यशरीर, वज्रऋषभनाराच सहनन आदि निमित्तकारण आवश्यक होते है, उन कारणो के विना मिले मुक्ति नही होती।

इसके उत्तर मे उपादान कहता है—

उपादान कहै रे निमित, ऐसे वोल न वोल।
तोको तज निज भजत है, ते ही करें किलोल ॥२९॥

अर्थ—उपादान कहता है कि हे निमित्त ! तू ऐसी वात न कह। जो पुरुष तुझे तजकर अपना भजन करते है वे ही सुख प्राप्त करते है।

उपादान का यह कहना तो सत्य है कि शरीर की रुचि और सेवा छोडकर आत्म-ध्यान करने से अविनाशी अनन्त सुख प्राप्त होता है। परन्तु निमित्त का कहना भी असत्य नही कि अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए जिस शुक्लध्यान की आवश्यकता है, वह भी वज्र-ऋषभनाराच सहनन वाले मानवशरीर के निमित्त से होता है। अत ससार और मुक्ति दोनो के लिए निमित्तकारण अनिवार्य आवश्यक है।

निमित्त कारण अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए १२ वी युक्ति देता है—

कहै निमित्त हमको तजे, कैसे वे शिव जात।
पच महाव्रत प्रकट है, औरहु क्रिया विख्यात ॥३०॥

अर्थ—निमित्तकारण कहता है कि मुझको छोड देने से मुक्ति कैसे मिल सकती है ? मुक्ति के लिए निमित्त अहिंसा सत्य अपरिग्रह आदि पाँच महाव्रत तथा गुप्ति समिति आदि चारित्र क्रिया प्रसिद्ध है।

इसके निराकरण मे उपादान कहता है—

पाँच महाव्रत योग त्रय, और सकल व्यवहार।
परको निमित्त खपाय के, तव पहुँचे भवपार ॥३१॥

अर्थ —पाँच महाव्रत, तीन योग तथा पर के निमित्त से होने वाले सभी व्यवहार चारित्र को आत्मा जब छोड देता है, तब वह ससार से पार होता है।

यह बात ठीक है कि जब मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब निश्चयचारित्र की प्राप्ति की दशा मे व्यवहार चारित्र स्वय छूट जाता है। जैसे कि समुद्र पार करने के लिए मनुष्य जहाज का निमित्त लेते है किन्तु समुद्र पार कर लेने पर उस जहाज को छोड देते है। किन्तु इससे निश्चयचारित्र के मूल कारण व्यवहारचारित्र की उपयोगिता नष्ट नही हो जाती। जैसे कि जहाज का अवलम्बन। छत के ऊपर पहुँच जाने पर सीढियाँ स्वय छूट जाती है परन्तु छत पर पहुँचने के लिए तो सीढियो की आवश्यकता है ही।

निमित्त अपनी सार्थकता के लिए १३ वी युक्ति देता है—

कहै निमित्त जग मे बडो, मोतें बडो न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद तें होय ॥३२॥

निमित्त कहता है कि "ससार मे सबसे बडा मैं हूँ, मुझ से बडा और कोई नही है। तीन लोक के वन्दनीय तीर्थङ्कर मेरे प्रसाद से ही होते है।"

तीर्थङ्कर सोलह-कारण भावनाओ के निमित्त से होते है, अत निमित्त-कारण का कथन यथार्थ है।

उपादान उत्तर देता है—

उपादान कहै तू कहा, चहुगति मे ले जाय।
तो प्रसाद तें जीव सब, दुखी होय रे भाय ॥३३॥

उपादान कहता है कि "निमित्त! तू तो आत्मा को चारो गतियो मे भ्रमण कराता है। भाई! तेरे प्रसाद से सब जीव दुख पाते है।"

पाठक देखे कि उपादान का यह उत्तर ऊटपटाग है। निमित्त की पूर्वोक्त युक्ति का तो उसने निराकरण किया नही प्रत्युत ससार-भ्रमण

के लिए निमित्तकारण की शक्ति का समर्थन और कर डाला। किन्तु उसमे भी पूर्ण सफलता उसे नही मिल सकी। क्योकि यदि पापकर्म के निमित्त से नरकदुख जीव को मिलता है तो लौकान्तिक तथा सर्वार्थ-सिद्धि के भवान्तकारी दिव्यसुख भी तो शुभ-कर्म के निमित्त से मिलता है।

इसी कारण निमित्त-कारण उपादान-कारण से पूछता है कि—

कहै निमित्त जो दुख सहै, सो तुम हमहि लगाय।
सुखी कौन तै होत है, ताको देहु बताय ॥३४॥

यानी—आत्मा जो दुख पाता है सो तो तुमने हम पर (निमित्त-कारण पर) थोप दिया किन्तु अहमिन्द्र, नारायण, चक्रवर्ती आदि के जो सुख होते है, वे सुख किससे मिलते है ? सो बताओ ?

सासारिक सुख की प्राप्ति भी शुभ कर्म के निमित्त से होती है।

तब उपादान उत्तर देता है—

जो सुखकू तू सुख कहे, सो सुख तो सुख नाहि।
ये सुख दुख के मूल है, सुख अविनाशी माहि ॥३५॥

यानी "जिस ससारी सुख को तू (निमित्त) सुख कहता है वह यथार्थ सुख नही है क्योकि ये सुख आगामी दुख के मूल कारण है। वास्तविक सुख तो अविनाशी होता है।"

ससार के सभी सुख, दुख के कारण नही होते, लौकान्तिक देवो का तथा सर्वार्थसिद्धि के देवो का दिव्य सुख अविनाशी सुख का कारण होता है।

निमित्त अपनी सफलता बताने के लिए फिर पूछता है—

अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यो विलसत नाहि।
शुभनिमित्त के योग बिन, परे-परे बिललाहि ॥३६॥

अर्थ—नरक निगोद आदि शरीरो मे अविनाशी आत्मा (उपादान)

विद्यमान है वह सुख क्यो नही भोगता ? शुभ निमित्त के विना वे जीव क्यो दुख से विलाप कर रहे हैं ?

उपादान उत्तर देता है—

शुभनिमित्त इस जीव को, मिल्यो कई भव सार।
पै इक सम्यग्दर्श विन, भटकत फिरौ गवार ॥३७॥

अर्थ—इस जीव को शुभ कर्म योग से शुभ निमित्त अनेक वार अनेक भवो मे मिलता रहा परन्तु एक सम्यग्दर्शन के बिना यह जीव ससार मे भटकता फिरा।"

उपादान का कहना कुछ ठीक है परन्तु सम्यग्दर्शन भी वहिरग तथा अन्तरग निमित्त कारण मिले विन। प्राप्त नही होता श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार मे सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण वतलाते हुए कहा है—

सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेयो भणिदा, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

यानी—सम्यग्दर्शन का वहिरग निमित्तकारण जिनवाणी तथा जिन वाणी के ज्ञाता पुरुष हे और उसका अन्तरग निमित्त-कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय आदि (उपशम, क्षयोपशम) है।

इसलिए सम्यग्दर्शन भी विना निमित्त के नही होता।

श्री भैया भगवतीदास निमित्त-कारण का अतिम पक्ष रखते है—

सम्यग्दर्श भये कहा, त्वरित मुक्ति मे जाहि।
आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुचाहि ॥३८॥

निमित्त कहता है कि "क्या सम्यग्दर्शन हो जाने पर तुरन्त मुक्ति मिल जाती है ? (नही) शुक्लध्यान के निमित्त से ही मुक्ति मिलती है।"

निमित्तकारण का यह कथन सर्वथा सत्य है।

इसका प्रत्युत्तर सुनिये—

छोर ध्यान की धारणा, मोर योग की रीत।
तोरि कर्म के जाल को, जोर लई शिव प्रीत ॥३९॥

अर्थ—ध्यान धारणा को छोडकर, योग की क्रिया को मोड कर कर्म-जाल को जो तोड डालते है, वे ही मुक्ति प्राप्त करते है।

पाठक महानुभाव विचार करे कि उपादान का यह उत्तर कितना असत्य है। शिवपुर के पथिक को सवसे पहले ध्यान धारणा लेनी पडती है। सातवे गुणस्थान मे धर्मध्यान का अवलम्वन लेकर मुनि जव सातिशय अप्रमत्त से आठवे गुणस्थान पर आते है तव उनको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक पहले शुक्लध्यान का अवलम्वन लेना पडता है। वह शुक्लध्यान ही आत्मा के गहन कर्मजाल को काटता हुआ आत्मा को मुक्ति शिखर पर पहुचाने के लिये श्रेणी (उत्तरोत्तर उन्नत भावो की सीढी) वनाता है जिससे अन्तर्मुहूर्त के स्वल्प काल मे आत्मा मोहनीय कर्म को क्षय करके वीतराग हो कर १२वें गुणस्थान मे पहुँच जाता है। वहाँ पर एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्ल-ध्यान के अवलम्वन से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म-से मुक्त हो कर, अनन्तचतुष्टय गुण का स्वामी सर्वज्ञ अर्हन्त वनकर १३वें गुणस्थान मे पहुँचता है। मन न रहते हुए भी तेरहवें गुणस्थान मे अघाती कर्मों को छिन्न भिन्न करने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान कार्यरत रहता है। तव भी पूर्ण-मुक्ति आत्मा को नही मिलती। अन्त मे जव व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे ध्यान से शेष समस्त कर्मजाल कट जाता है तव आत्मा पूर्ण मुक्त होता है। ऐसी दशा मे यो कह देना कि 'ध्यान की धारणा छोड देने से आत्मा मुक्त होता है' सरासर गलत है।

आश्चर्य इस वात का है कि श्री प० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने अपनी पुस्तक मे इस सवाद को निर्णीत सिद्धान्त के रूप मे विना कुछ

सत्य असत्य विवेचन किये ज्यो का त्यो रख दिया है। श्रीकहान जी स्वामी ने भी निमित्तकारण को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए यह सवाद प्रमाण के रूप मे अनेक प्रकरणो मे दिया है। आप दोनो महानुभाव साधारण रूप से भी विचार करे कि सवाद निमित्तकारण की उपयोगिता सिद्ध करता है या अकिंचित्करता।

अत मे ४० वा दोहा निम्नलिखित है—

तव निमित्त हार्यो तहाँ, अव नहि जोर वसाय।
उपादान शिवलोक मे पहुँच्यो कर्म खिपाय ॥४०॥

यानी—उपादान की युक्ति सुनकर निमित्त का कुछ वल न चला और वह हार गया। उपादान कर्म क्षय करके मुक्ति मे जा पहुँचा।

उपादान की यह वात भी गलत है। निमित्त की एक भी युक्ति का निराकरण उपादान नही कर सका, तव फिर निमित्त हार कैसे गया। कर्मों से मुक्ति दिलाने के लिये चौथे से लेकर १४ वें गुणस्थान तक निमित्त कारण ने उपादान को जो सहायता प्रदान की है, यदि उपादान-कारण उस उपकार को भुलाता है तो वह महान कृतघ्न है।

भैया भगवतीदास अपने सवाद मे एक अतिम कमी छोड गये हैं, उन्हे अन्त मे निमित्त की ओर से एक युक्तियुक्त दोहा ओर रखना था। "मुक्त आत्मा लोक शिखर तक धर्मद्रव्य (निमित्त) की उदासीन सहायता से पहुँचा। उसके आगे जव धर्मद्रव्य न रहा तो मुक्त आत्मा को लोक-शिखर पर ही अनन्तकाल के लिये रुक जाना पडा।'

तव देखते कि उपादान कौन सा उत्तर देता है। उस दोहे के आगे एक दोहा और लिखते कि 'मुक्त जीव को लोकशिखर पर भी अधर्म, आकाश और काल द्रव्य की उदासीन सहायता सदा मिलती रहेगी या मिलती रहती है।' यथार्थ मे यह सवाद तव ही समाप्त होता।

उद्गार

ससार का प्रत्येक पदार्थ नित्यता अनित्यता, एकता अनेकता, अस्तिता नास्तिता आदि अनेक धर्मों वाला है, अत प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से 'अनेकान्त' रूप (अनेकधर्मात्मक) है। जैनधर्म पदार्थ के उन समस्त धर्मों का विधिपूर्वक वर्णन करता है, इस कारण जैन धर्म की कथन-प्रणाली पूर्ण सत्य प्रमाणित होती है।

तदनुसार आत्मा जहाँ द्रव्य की अपेक्षा त्रिकाल ध्रुव, नित्य है उसी के साथ प्रतिक्षण उत्पाद व्यय शील अपनी पर्यायो की अपेक्षा वह अनित्य भी है। क्योकि द्रव्य के विना पर्याय और पर्याय के विना द्रव्य नही होता।

जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकार के होते हैं। ससारी जीव अपनी वैभाविक शक्ति से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओका आकर्षण करता है और वे कार्माण वर्गणाऐ कर्मरूप होकर जीव को परतन्त्र वनाती हैं। जीवन मरण, भूख प्यास, अज्ञान, मिथ्यात्व, रोग शोक भय आदि समस्त विकृतभाव और नर, पशु, देव, नरक आदि पर्याय उसी कर्म-उदय से हुआ करती हैं। जो कि अभव्य तथा दूरातिदूर भव्य के सदा होती रहेगी।

भव्य जीव जव जिनवाणी के उपदेश के निमित्त रूप वहिरग कारण के मिलने पर तथा मिथ्यात्व प्रकृति एव अनन्तानुवन्धी कषाय के उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप अन्तरग निमित्त कारण मिलने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यदि ये दोनो निमित्त कारण उसे न मिले, एक भी निमित्त कारण की कमी हो, तो उसका उपादान कभी सम्यक्त्व रूप कार्य नही कर पाता।

सम्यग्दर्शन हो जाने के वाद उसमे अपने कल्याण करने की योग्यता प्रगट होती है परन्तु वह अपने पुरुषार्थ से जव तक चारित्र का आचरण न करे, अणुव्रत, महाव्रत गुप्ति समिति आदि का पालन न करे तव

उपादान इसके उत्तर मे कहता है—

सूर सोम मणि अग्नि जो, करें अनेक प्रकाश ।
नैनशक्ति विन ना लखें, अन्धकार सम भास ॥२७॥

अर्थ—उपादानकारण कहता है। कि सूर्य, चन्द्र, रत्न, अग्नि, दीपक जो अनेक प्रकार का प्रकाश करते है, वह सव व्यर्थ है, वे अन्धकार के ममान ही प्रतीत होते है। यदि नेत्रो मे देखने की (उपादान) शक्ति न हो।

उपादान का यह उत्तर ऊटपटाग है क्योकि "आखो से पदार्थो के देखने के लिए प्रकाश अनिवार्य निमित्तकारण है।" निमित्तकारण का यह पक्ष ज्यो का त्यो अक्षुण्ण बना हुआ है। उपादान का उपर्युक्त उत्तर निमित्त की युक्ति को काट नही सका। अन्धा मनुष्य प्रकाश मे भी नही देख पाता, इसमे भी (द्रव्येन्द्रिय) नेत्र का खराव हो जाना निमित्तकारण है। अधे मनुष्य मे चक्षु-इन्द्रियावरण के क्षयोपशम से देखने की उपादान शक्ति विद्यमान है किन्तु वह उपादान शक्ति स्वस्थ नेत्रो का निमित्त न मिलने से देखने का कार्य नही कर पाती। इम तरह उपादान का यह उत्तर निमित्त की उपयोगिता या सार्थकता को पुष्ट करता है। पदार्थो को देखने मे प्रकाश निमित्त कारण है, न देख सकने मे पौद्गलिक नेत्रो की खरावी प्रतिवन्धक रूप निमित्तकारण है।

निमित्तकारण फिर एक अन्य युक्ति रखता है —

निमित कहै फिर जीव को, मो विन जगके माहि।
सवै हमारे वश परे, हम विन मुक्ति न जाहि ॥२८॥

यानी—इस ससार मे ऐसा कौन जीव है जो मेरे विना हो ? समस्त जीव मेरे वश मे है। मेरे विना कोई जीव मुक्त नही होता।

निमित्त का यह कहना भी युक्ति-युक्त यथार्थ है क्योकि द्रव्य-

कर्म और नोकर्म ससारी जीव को लगे हुए है, ससारी जीव इनके निमित्त से ही अपने ससारी कार्य करता है और मुक्ति पाने के लिए मनुष्यशरीर, वज्रऋषभनाराच सहनन आदि निमित्तकारण आवश्यक होते है, उन कारणो के बिना मिले मुक्ति नही होती।

इसके उत्तर मे उपादान कहता है—

उपादान कहे रे निमित, ऐसे बोल न बोल।
तोको तज निज भजत है, ते ही करे किलोल ॥२६॥

अर्थ—उपादान कहता है कि हे निमित्त ! तू ऐसी बात न कह। जो पुरुष तुझे तजकर अपना भजन करते है वे ही सुख प्राप्त करते है।

उपादान का यह कहना तो सत्य है कि शरीर की रुचि और सेवा छोडकर आत्म-ध्यान करने से अविनाशी अनन्त सुख प्राप्त होता है। परन्तु निमित्त का कहना भी असत्य नही कि अनन्त सुख प्राप्त करने के लिए जिस शुक्लध्यान की आवश्यकता है, वह भी वज्र-ऋषभनाराच सहनन वाले मानवशरीर के निमित्त से होता है। अत संसार और मुक्ति दोनो के लिए निमित्तकारण अनिवार्य आवश्यक है।

निमित्त कारण अपनी उपयोगिता सिद्ध करने के लिए १२ वी युक्ति देता है—

कहे निमित्त हमको तजे, कैसे वे शिव जात।
पच महाव्रत प्रकट ह, औरहु क्रिया विख्यात ॥३०॥

अर्थ—निमित्तकारण कहता है कि मुझको छोड देने से मुक्ति कैसे मिल सकती है ? मुक्ति के लिए निमित्त अहिसा सत्य अपरिग्रह आदि पाँच महाव्रत तथा गुप्ति समिति आदि चारित्र क्रिया प्रसिद्ध है।

इसके निराकरण मे उपादान कहता है—

पाँच महाव्रत योग त्रय, और सकल व्यवहार।
परको निमित्त खपाय के, तब पहुँचे भवपार ॥३१॥

अर्थ—पाँच महाव्रत, तीन योग तथा पर के निमित्त से होने वाले सभी व्यवहार चारित्र को आत्मा जब छोड देता है, तब वह ससार से पार होता है।

यह बात ठीक है कि जब मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है तब निश्चयचारित्र की प्राप्ति की दशा मे व्यवहार चारित्र स्वय छूट जाता है। जैसे कि समुद्र पार करने के लिए मनुष्य जहाज का निमित्त लेते है किन्तु समुद्र पार कर लेने पर उस जहाज को छोड देते है। किन्तु इससे निश्चयचारित्र के मूल कारण व्यवहारचारित्र की उपयोगिता नष्ट नही हो जाती। जैसे कि जहाज का अवलम्बन। छत के ऊपर पहुँच जाने पर सीढियाँ स्वय छूट जाती हैं परन्तु छत पर पहुँचने के लिए तो सीढियो की आवश्यकता है ही।

निमित्त अपनी सार्थकता के लिए १३ वी युक्ति देता है—

कहै निमित्त जग मे बडो, मोते बडो न कोय।
तीन लोक के नाथ सब, मो प्रसाद ते होय ॥३२॥

निमित्त कहता है कि "ससार मे सबसे बडा मैं हूँ, मुझ से बडा और कोई नही है। तीन लोक के वन्दनीय तीर्थङ्कर मेरे प्रसाद से ही होते है।"

तीर्थङ्कर सोलह-कारण भावनाओ के निमित्त से होते हैं, अत निमित्त-कारण का कथन यथार्थ है।

उपादान उत्तर देता है—

उपादान कहै तू कहा, चहुगति मे ले जाय।
तो प्रसाद तै जीव सब, दुखी होय रे भाय ॥३३॥

उपादान कहता है कि "निमित्त! तू तो आत्मा को चारो गतियो मे भ्रमण कराता है। भाई! तेरे प्रसाद से सब जीव दुख पाते है।"

पाठक देखे कि उपादान का यह उत्तर ऊटपटाग है। निमित्त की पूर्वोक्त युक्ति का तो उसने निराकरण किया नही प्रत्युत ससार-भ्रमण

के लिए निमित्तकारण की शक्ति का समर्थन और कर डाला। किन्तु उसमे भी पूर्ण सफलता उसे नही मिल सकी। क्योकि यदि पापकर्म के निमित्त से नरकदुख जीव को मिलता है तो लौकान्तिक तथा सर्वार्थ-सिद्धि के भवान्तकारी दिव्यसुख भी तो शुभ-कर्म के निमित्त से मिलता है।

इसी कारण निमित्त-कारण उपादान-कारण से पूछता है कि—

कहै निमित्त जो दुख सहै, सो तुम हमहि लगाय।
सुखी कौन तै होत है, ताको देहु बताय ॥३४॥

यानी—आत्मा जो दुख पाता है सो तो तुमने हम पर (निमित्त-कारण पर) थोप दिया किन्तु अहमिन्द्र, नारायण, चक्रवर्ती आदि के जो सुख होते है, वे सुख किससे मिलते है ? सो बताओ ?

—सासारिक सुख की प्राप्ति भी शुभ कर्म के निमित्त से होती है।

तब उपादान उत्तर देता है—

जो सुखकू तू सुख कहै, सो सुख तो सुख नाहि।
ये सुख दुख के मूल हैं, सुख अविनाशी माहि ॥३५॥

यानी "जिस ससारी सुख को तू (निमित्त) सुख कहता है वह यथार्थ सुख नही है क्योकि ये सुख आगामी दुख के मूल कारण है। वास्तविक सुख तो अविनाशी होता है।"

ससार के सभी सुख, दुख के कारण नही होते, लौकान्तिक देवो का तथा सर्वार्थसिद्धि के देवो का दिव्य सुख अविनाशी सुख का कारण होता है।

निमित्त अपनी सफलता बताने के लिए फिर पूछता है—

अविनाशी घट-घट बसे, सुख क्यो विलसत नाहि।
शुभनिमित्त के योग बिन, परे-परे विललाहि ॥३६॥

अर्थ—नरक निगोद आदि शरीरो मे अविनाशी आत्मा (उपादान)

विद्यमान है वह सुख क्यो नही भोगता ? शुभ निमित्त के बिना वे जीव क्यो दुख से विलाप कर रहे है ?

उपादान उत्तर देता है—

शुभनिमित्त इस जीव को, मिल्यो कई भव सार।
पै इक सम्यग्दर्श विन, भटकत फिरी गवार ॥३७॥

अर्थ—इस जीव को शुभ कर्म योग से शुभ निमित्त अनेक वार अनेक भवो मे मिलता रहा परन्तु एक सम्यग्दर्शन के विना यह जीव संसार मे भटकता फिरा।"

उपादान का कहना कुछ ठीक है परन्तु सम्यग्दर्शन भी वहिरग तथा अन्तरग निमित्त कारण मिले विना प्राप्त नही होता श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने नियमसार मे सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण वतलाते हुए कहा है—

सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेयो भणिदा, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

यानी—सम्यग्दर्शन का वहिरग निमित्तकारण जिनवाणी तथा जिन वाणी के ज्ञाता पुरुष है और उसका अन्तरग निमित्त-कारण दर्शन-मोहनीय कर्म का क्षय आदि (उपशम, क्षयोपशम) है।

इसलिए सम्यग्दर्शन भी विना निमित्त के नही होता।

श्री भैया भगवतीदास निमित्त-कारण का अतिम पक्ष रखते है—

सम्यग्दर्श भये कहा, त्वरित मुक्ति मे जाहि।
आगे ध्यान निमित्त है, ते शिव को पहुचाहि ॥३८॥

निमित्त कहता है कि "क्या सम्यग्दर्शन हो जाने पर तुरन्त मुक्ति मिल जाती है ? (नही) शुक्लध्यान के निमित्त से ही मुक्ति मिलती है।"

निमित्तकारण का यह कथन सर्वथा सत्य है।

इसका प्रत्युत्तर सुनिये—

छोर ध्यान की धारणा, मोर योग की रीत ।
तोरि कर्म के जाल को, जोर लई शिव प्रीत ॥३६॥

अर्थ—ध्यान धारणा को छोडकर, योग की क्रिया को मोड कर कर्म-जाल को जो तोड डालते हे, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।

पाठक महानुभाव विचार करे कि उपादान का यह उत्तर कितना असत्य है। शिवपुर के पथिक को सवसे पहले ध्यान धारणा लेनी पडती है। सातवे गुणस्थान मे धर्मध्यान का अवलम्वन लेकर मुनि जव सातिशय अप्रमत्त से आठवें गुणस्थान पर आते है तव उनको पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक पहले शुक्लध्यान का अवलम्वन लेना पडता है। वह शुक्लध्यान ही आत्मा के गहन कर्मजाल को काटता हुआ आत्मा को मुक्ति शिखर पर पहुचाने के लिये श्रेणी (उत्तरोत्तर उन्नत भावो की सीढी) वनाता है जिससे अन्तर्मुहूर्त के स्वल्प काल मे आत्मा मोहनीय कर्म को क्षय करके वीतराग हो कर १२वे गुणस्थान मे पहुँच जाता हे। वहाँ पर एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरे शुक्ल-ध्यान के अवलम्वन से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म से मुक्त हो कर, अनन्तचतुष्टय गुण का स्वामी सर्वज्ञ अर्हन्त वनकर १३वे गुणस्थान मे पहुँचता हे। मन न रहते हुए भी तेरहवे गुणस्थान मे अघाती कर्मों को छिन्न भिन्न करने के लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्लध्यान कार्यरत रहता है। तव भी पूर्ण-मुक्ति आत्मा को नही मिलती। अन्त मे जव व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे ध्यान से शेप समस्त कर्मजाल कट जाता है तव आत्मा पूर्ण मुक्त होता है। ऐसी दशा मे यो कह देना कि 'ध्यान की धारणा छोड देने से आत्मा मुक्त होता है' सरासर गलत हे।

आश्चर्य इस वात का है कि श्री प० फूलचन्द्र जी शास्त्री ने अपनी पुस्तक मे इस मवाद को निर्णीत सिद्धान्त के रूप मे विना कुछ

सत्य असत्य विवेचन किये ज्यो का त्यो रख दिया है। श्रीकेहान जी स्वामी ने भी निमित्तकारण को अकिंचित्कर सिद्ध करने के लिए यह सवाद प्रमाण के रूप मे अनेक प्रकरणो मे दिया है। आप दोनो महानुभाव साधारण रूप से भी विचार करें कि सवाद निमित्तकारण की उपयोगिता सिद्ध करता है या अकिंचित्करता।

अत मे ४० वा दोहा निम्नलिखित है—

तब निमित्त हार्यो तहाँ, अब नहि जोर बसाय।
उपादान शिवलोक मे पहुँच्यो कर्म खिपाय॥४०॥

यानी—उपादान की युक्ति सुनकर निमित्त का कुछ वल न चला और वह हार गया। उपादान कर्म क्षय करके मुक्ति मे जा पहुँचा।

उपादान की यह बात भी गलत है। निमित्त की एक भी युक्ति का निराकरण उपादान नही कर सका, तब फिर निमित्त हार कैसे गया। कर्मों से मुक्ति दिलाने के लिये चौथे से लेकर १४ वें गुणस्थान तक निमित्त कारण ने उपादान को जो सहायता प्रदान की है, यदि उपादान-कारण उस उपकार को भुलाता है तो वह महान कृतघ्न है।

भैया भगवतीदास अपने सवाद मे एक अतिम कमी छोड गये हैं, उन्हे अन्त मे निमित्त की ओर से एक युक्तियुक्त दोहा ओर रखना था। "मुक्त आत्मा लोक शिखर तक धर्मद्रव्य (निमित्त) की उदासीन सहायता मे पहुँचा। उसके आगे जब धर्मद्रव्य न रहा तो मुक्त आत्मा को लोक-शिखर पर ही अनन्तकाल के लिये रुक जाना पडा।'

तब देखते कि उपादान कौन सा उत्तर देता है। उस दोहे के आगे एक दोहा और लिखते कि 'मुक्त जीव को लोकशिखर पर भी अधर्म, आकाश और काल द्रव्य की उदासीन सहायता सदा मिलती रहेगी या मिलती रहती है।' यथार्थ मे यह सवाद तब ही समाप्त होता।

उद्गार

ससार का प्रत्येक पदार्थ नित्यता अनित्यता, एकता अनेकता, अस्तिता नास्तिता आदि अनेक धर्मों वाला है, अत प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से 'अनेकान्त' रूप (अनेकधर्मात्मक) है। जैनधर्म पदार्थ के उन समस्त धर्मों का विधिपूर्वक वर्णन करता है, इस कारण जैन धर्म की कथन-प्रणाली पूर्ण सत्य प्रमाणित होती है।

तदनुसार आत्मा जहाँ द्रव्य की अपेक्षा त्रिकाल ध्रुव, नित्य है उसी के साथ प्रतिक्षण उत्पाद व्यय-शील अपनी पर्यायो की अपेक्षा वह अनित्य भी है। क्योकि द्रव्य के विना पर्याय और पर्याय के विना द्रव्य नही होता।

जीव और पुद्गल द्रव्य शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकार के होते हैं। ससारी जीव अपनी वैभाविक शक्ति से पौद्गलिक कार्माण वर्गणाओका आकर्षण करता है और वे कार्माण वर्गणाए कर्मरूप होकर जीव को परतन्त्र बनाती है। जीवन मरण, भूख प्यास, अज्ञान, मिथ्यात्व, रोग शोक भय आदि समस्त विकृतभाव और नर, पशु, देव, नरक आदि पर्याय उसी कर्म-उदय से हुआ करती हैं। जो कि अभव्य तथा दूरातिदूर भव्य के सदा होती रहेगी।

भव्य जीव जब जिनवाणी के उपदेश के निमित्त रूप बहिरग कारण के मिलने पर तथा मिथ्यात्व प्रकृति एव अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप अन्तरग निमित्त कारण मिलने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। यदि ये दोनो निमित्त कारण उसे न मिलें, एक भी निमित्त कारण की कमी हो, तो उसका उपादान कभी सम्यक्त्व रूप कार्य नही कर पाता।

सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद उसमे अपने कल्याण करने की योग्यता प्रगट होती है परन्तु वह अपने पुरुषार्थ से जब तक चारित्र या आचरण न करे, अणुव्रत, महाव्रत गुप्ति समिति आदि का पालन न करे तब